विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक २
फरवरी २००३
मूल्य रु. ६.००
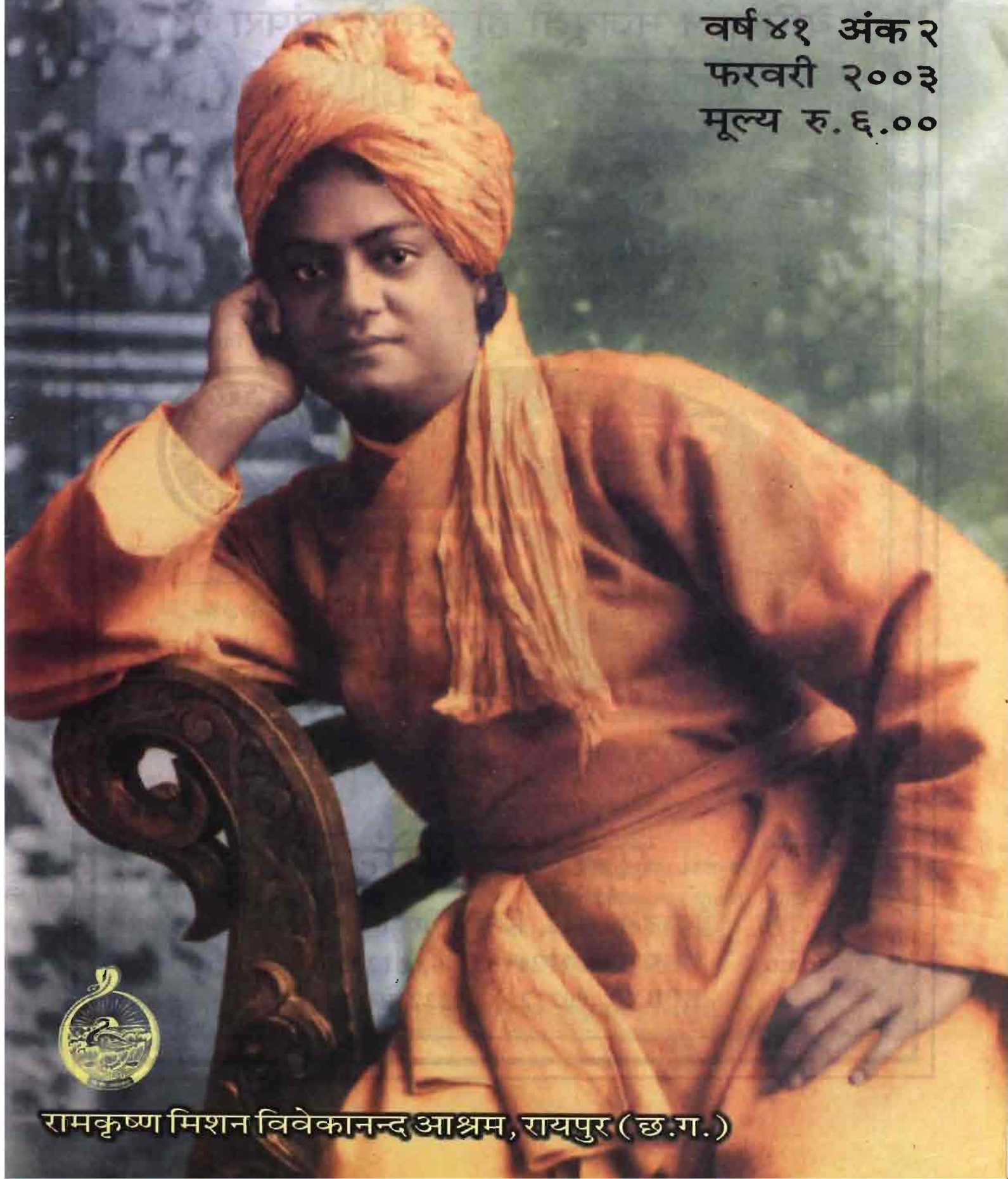
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

फरवरी २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक २

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ६३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

भगवान श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर

नम्र निवेदन

प्रिय भक्तगण तथा सज्जनो,

स्वामी विवेकानन्द द्वारा संस्थापित रामकृष्ण संघ की एक शाखा, भारतवर्ष के मध्य-भाग में बसे हुए इस नागपुर में भी है। धन्तोली मुहल्ले में स्थित 'रामकृष्ण मठ' नाम से विख्यात यह संस्था 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के आदर्शानुसार विगत ७४ वर्षों से अपनी विभिन्न गतिविधियों के साथ जनता की सेवा में निरत है।

भगवान श्रीरामकृष्ण का वर्तमान सार्वजनीन मन्दिर तथा उससे संलग्न प्रार्थना-गृह अब जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और उसकी दीवारों में दरारें पड़ चुकी हैं। अब यथाशीघ्र उसके स्थान पर एक नया मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दिन-दिन भक्तों की संख्या में हो रही वृद्धि के फलस्वरूप भी काफी समय से प्रार्थना-गृह में स्थान की कमी का बोध किया जा रहा है। अत: हमने पुराने देवालय-भवन के स्थान पर एक नये विशाल मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनवाने का संकल्प किया है। इस भवन का का निर्माण निम्नलिखित विवरण के अनुसार होगा –

मन्दिर की लम्बाई तथा चौड़ाई	**११७' x ५८'**
मन्दिर की ऊँचाई	**६७'**
गर्भ-मन्दिर (पूजागृह)	**१८.५' x १८.५'**
प्रार्थना-कक्ष (५०० भक्तों के बैठने के लिए)	**६७' x ४०'**
दोनों ओर के बरामदे	**६७' x ५'**
मन्दिर का तलघर और सभागार	**९१.५' x ५१'**

इसके अलावा ग्रन्थालय-भवन और फीजियोथेरपी यूनिट के ऊपर की मंजिलों पर भी निर्माण-कार्य होगा।

इन सभी निर्माण-कार्यों पर कुल मिलाकर लगभग तीन करोड़ रुपयों का खर्च आयेगा, जिसके लिए यह मठ जन-साधारण से प्राप्त होनेवाले दान पर ही निर्भर है। हमारा आपसे आन्तरिक अनुरोध है कि समग्र मानवता के आध्यात्मिक तथा सर्वांगीण उन्नयन हेतु प्रस्तावित इस योजना के लिए आप उदारतापूर्वक अंशदान करें।

आप सभी पर भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ श्री सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द जी का आशीर्वाद वर्षित हो – इस प्रार्थना तथा शुभ-कामनाओं सहित –

प्रभु की सेवा में,
स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, नागपुर

कृपया ध्यान दें –
दान की राशि डी.डी. या चेक द्वारा **रामकृष्ण मठ, नागपुर** के नाम पर भेजें। दान की राशि आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होगी। दान विदेशी मुद्रा में भी स्वीकार किया जाएगा।

रामकृष्ण मठ
धन्तोली, नागपुर – ४४० ०१२
फोन : २५३२६९०, २५२३४२२ फैक्स : २५३६९४२

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ४
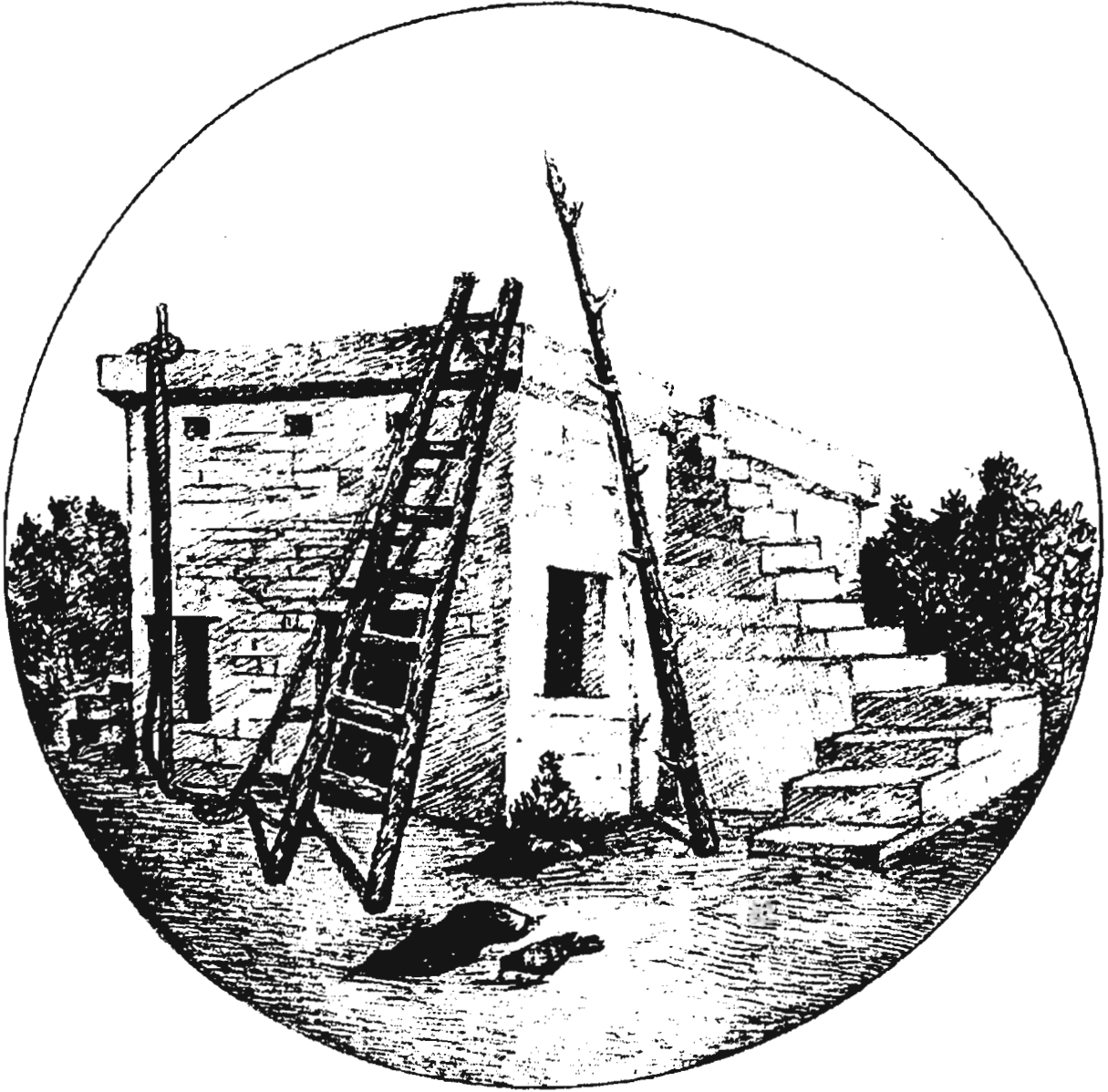
रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

छत पर अनेक उपायों से जाया जा सकता है। पक्की सीढ़ी, लकड़ी की सीढ़ी, टेढ़ी सीढ़ी और केवल एक रस्सी के सहारे भी जाया जा सकता है। परन्तु जाते समय एक ही उपाय का सहारा लेकर जाना पड़ता है – दो-तीन अलग अलग सीढ़ियों पर पैर रखने से ऊपर नहीं जा सकते। लेकिन छत पर पहुँच जाने के बाद सभी प्रकार की सीढ़ियों के सहारे उतर-चढ़ सकते हैं।

इसीलिए पहले एक धर्म का सहारा लेना पड़ता है। ईश्वर की प्राप्ति होने पर वही व्यक्ति सभी धर्म-पथों से आना-जाना कर सकता है। जब हिन्दुओं के बीच में रहता है तब लोग उसे हिन्दू मानते हैं; जब मुसलमानों के साथ रहता है तो लोग मुसलमान मानते है और फिर जब ईसाइयों के साथ रहता है, तो सभी लोग समझते हैं कि शायद वे ईसाई हैं। ''सभी धर्मों के लोग एक ही को पुकार रहे हैं। कोई कहता है ईश्वर, कोई राम, कोई हरि, कोई अल्लाह, कोई ब्रह्म – नाम अलग अलग हैं, परन्तु वस्तु एक ही है।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४१ **फरवरी २००३** **अंक २**

नीति-शतकम्

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो ! विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥७७॥

अन्वयः – इतः केशवः स्वपिति, इतः तदीय-द्विषां कुलम्, इतः च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते, इतः अपि समस्त-संवर्तकैः सह वडवानलः । अहो! सिन्धोः वपुः विततम् ऊर्जितं भरसहं च ।

भावार्थ – समुद्र में एक ओर तो भगवान विष्णु सो रहे हैं, तो दूसरी ओर दानव-समूह पड़ा है; इधर शरणार्थी मैनाक आदि पर्वत लेटे हुए हैं, तो उधर सभी प्रलयकालीन अग्नियों या मेघों के साथ बड़वानल भी विद्यमान है। अहो ! समुद्र का शरीर कितना विशाल, कितना सबल और भार वहन करने में कितना सक्षम है !

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्य विद्वज्जनम् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां चेष्टितम् ॥७८॥

अन्वयः – तृष्णां छिन्धि, क्षमां भज, मदं जहि, पापे रतिं मा कृथाः, सत्यं ब्रूहि, साधुपदवीं अनुयाहि, विद्वज्जनम् सेवस्व, मान्यान् मानय, विद्विषः अपि अनुनय, प्रश्रयं प्रख्यापय, कीर्तिं पालय, दुःखिते दयां कुरु, एतत् सतां चेष्टितम् ।

भावार्थ – कामना को त्याग दो, क्षमा का पालन करो, अहंकार छोड़ दो, पापकर्मों में रुचि न लो, सत्य बोलो, सज्जनों के पदचिह्नों पर चलो, विद्वानों की सेवा करो, पूजनीयों का आदर करो, द्वेषियों को भी मनाओ, विनम्रता दिखाओ, सत्कीर्ति की रक्षा करो, दुखियों पर दया करो, क्योंकि सत्पुरुष ऐसा ही आचरण किया करते हैं।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(यमन-त्रिताल)

रामकृष्ण चरण, भज मन ।
जग जन पावन, ताप नसावन,
मोहक अनुपम चिन्मय सुन्दर ।।

नित्य निरंजन कलिमल भंजन,
साधन रंजन मधुमय सुखकर ।। मोहक०

कलुष निवारण भवजल तारक,
संकट हारक अभिनव भास्वर ।। मोहक०

ध्यावत अखिल असुर सुर मुनि नर,
पावत परम सिद्धि श्रेयष्कर ।। मोहक०

– २ –

(अहीरभैरव-कहरवा)

ठाकुर, तुम धरती पर आये,
अभिनव धर्ममार्ग दिखला कर,
जनमानस पर छाये ।।

छाया था घनघोर अँधेरा,
तुम आये तो हुआ सबेरा,
उदय हुआ रवि प्राची नभ में,
ज्योति फैलती जाये ।।

सुनकर बचनामृत का डंका,
भाग चले नास्तिकता शंका,
हो कृतकृत्य विहाल हुए सब,
मंगल कीरत गाये ।।

जग-जीवन में व्याप्त जटिलता,
जन-मन में दुख और विफलता,
पर तव कृपादृष्टि से सबने,
आत्मबोध सुख पाये ।।

– *विदेह*

हिन्दू धर्म की विशेषता

स्वामी विवेकानन्द

हिन्दू धर्म मानवात्मा के लिए केवल एक कर्तव्य बताता है – वह नश्वरता के बीच अनश्वर को पाने की खोज है। कोई भी मनुष्य ऐसा एक मार्ग बताने का साहस नहीं करता, जिसके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है। विवाह अथवा अ-विवाह, भलाई अथवा बुराई, विद्वत्ता अथवा अज्ञान, इनमें से कोई भी उचित है, यदि वह हमें ध्येय की ओर ले जाता है। इस तरह इसमें और बौद्ध-मत में बड़ा अन्तर है...। क्या आपको महाभारत में उस युवक योगी की कहानी याद है, जो अपनी मनोशक्ति पर इसलिए गर्व करता था कि उसने एक कौवे और एक सारस के शरीर को अपनी तीव्र इच्छा-शक्ति के अनुसार क्रोध से उत्पन्न हुई अग्नि से जला दिया था। क्या आपको याद है कि वह युवक योगी नगर में जाता है और पहले एक पत्नी को अपने रोगी पति की सेवा करते हुए पाता है और फिर कसाई धर्म-व्याध को देखता है. जिन दोनों ने सामान्य सच्चाई और कर्तव्य के मार्ग से ज्ञान प्राप्त किया है।

वेदान्त दर्शन की अत्युच्च आध्यात्मिक उड़ानों से लेकर – आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, मूर्तिपूजा के निम्न स्तरीय विचारों एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं तक और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद – इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है।

हिन्दुओं की दृष्टि में समस्त धर्म जगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों की, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है, प्रगति है। प्रत्येक धर्म जड़-भावापन्न मानव से एक ईश्वर का उद्‌भव कर रहा है और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है। तो फिर परस्पर इतने विरोध क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभासी हैं। उनकी उत्पत्ति सत्य के द्वारा भिन्न अवस्थाओं और प्रकृतियों के अनुरूप अपना समायोजन करते समय होती है।

हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जा रहा है। वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार निम्नतम जड़-पूजावाद से लेकर सर्वोच्च ब्रह्मवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी अपने अपने जन्म तथा साहचर्य की अवस्था द्वारा निर्धारित होकर उस असीम के ज्ञान तथा उपलब्धि के निमित्त मानवात्मा के विविध प्रयत्न हैं और यह प्रत्येक प्रयत्न उन्नति की एक अवस्था को सूचित करता है। प्रत्येक जीव उस युवा गरुड़ पक्षी के समान है, जो धीरे धीरे ऊँचा उड़ता हुआ तथा अधिकाधिक शक्ति-सम्पादन करता हुआ, अन्त में उस भास्वर सूर्य तक पहुँच जाता है।

हमारे धर्म के सम्प्रदायों में अनेक विभिन्नताएँ तथा अन्तर्विरोध होते हुए भी एकता के अनेक क्षेत्र हैं। प्रथम, सभी सम्प्रदाय तीन चीजों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं – ईश्वर, आत्मा और जगत्। ईश्वर वह है, जो अनन्त काल से पूरे विश्व का सर्जन, पालन और संहार करता आ रहा है। सांख्य दर्शन के अतिरिक्त सभी इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं। इसके बाद आत्मा का सिद्धान्त और पुनर्जन्म की बात आती है। इसके अनुसार असंख्य जीवात्माएँ बार बार अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण कर जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमती रहती हैं। इसी को संसारवाद या प्रचलित रूप से पुनर्जन्मवाद कहते हैं। इसके बाद यह अनादि अनन्त जगत् है। यद्यपि कुछ लोग इन तीनों को भिन्न भिन्न मानते हैं तथा कुछ इन्हें एक ही के भिन्न भिन्न तीन रूप और कुछ अन्य प्रकारों से इनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, पर सभी इन तीनों का अस्तित्व मानते हैं।

आजकल प्राय: यह निन्दा सुनने में आती है कि हिन्दुओं का धर्म दूसरों के धर्म को जीत लेने में सचेष्ट नहीं है; और मैं बड़े दु:ख से कहता हूँ कि यह बात ऐसे व्यक्तियों के मुँह की होती है, जिनसे हम और भी ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। मुझे तो लगता है कि हमारा धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। इसके पक्ष में प्रधान युक्ति यही है कि हमारे धर्म ने कभी दूसरे धर्मों पर विजय प्राप्त नहीं की, उसने कभी खून की नदियाँ नहीं बहायीं, इसने सदा आशीर्वाद एवं शान्ति के शब्द कहे, सबको प्रेम और सहानुभूति की कथा सुनाई। यहीं, सर्वप्रथम केवल यहीं, दूसरे धर्म से द्वेष न रखने के भाव प्रचारित हुए। अन्य देशों में यह केवल सिद्धान्त-चर्चा मात्र है। यहीं, केवल यहीं, देखने में आता है कि हिन्दू मुसलमानों के लिए मस्जिदें और ईसाइयों के लिए गिरजे बनवाते हैं।

चिन्तन एवं मनन-युक्त दर्शनशास्त्र तथा भिन्न भिन्न वेदों में प्रतिपादित नैतिक उपदेश ही हिन्दू धर्म के प्रधान तत्त्वों का आधार है। वेदों का कथन है कि देश एवं काल की दृष्टि से यह विश्व अनन्त और सनातन है। यह न तो कभी शुरू हुआ, न कभी समाप्त होगा। इस जड़-जगत् में वह चित्-शक्ति

अगणित प्रकारों से प्रकाशित हुई है, इस सान्त के राज्य में उस अनन्त की शक्ति नाना रूपों में व्यक्त हुई हैं, तथापि वह अनन्त चित्-सत्ता स्वरूपतः स्वयम्भू, सनातन एवं अपरिणामी है। काल की गति का शाश्वत सत्ता पर कोई असर नहीं होता। मानव-बुद्धि के लिए सर्वथा अगम्य, जो अतीन्द्रिय भूमि है, वहाँ न तो भूत है और न भविष्य। वेदों का कथन है कि मानव की आत्मा अमर है। देह वृद्धि और क्षय के नियमों से बद्ध है; जिसकी वृद्धि है, उसका क्षय भी अवश्यम्भावी है। पर देहस्थ आत्मा तो असीम एवं सनातन है; अनादि और अनन्त है।

अपने धर्म में दूसरों का सम्मिलित होना हिन्दुओं द्वारा सहन किया जाता है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह शूद्र हो या चाण्डाल, ब्राह्मण के प्रति भी दर्शन की व्याख्या कर सकता है। सत्य निम्नतम व्यक्ति से भी सीखा जा सकता है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा सम्प्रदाय का हो।

प्राचीनतम मुसलमान इतिहासकार फरिश्ता के प्रमाण से जब मुसलमान पहले पहल यहाँ आए, तो हिन्दुओं की संख्या साठ करोड़ थी। अब हम बीस करोड़ हैं। और फिर हिन्दू धर्म में से जो एक व्यक्ति बाहर जाता है उससे एक व्यक्ति केवल कम ही नहीं होता, वरन् एक शत्रु भी बढ़ता है।

फिर जो हिन्दू मुसलमान अथवा ईसाई बने हैं, उनमें से अधिकतर या तो तलवार के भय से बने हैं या जो इस प्रकार बने हैं, उनके वंशज हैं, इन लोगों पर किसी प्रकार की अयोग्यता आरोपित करना स्पष्ट ही अन्याय होगा। जन्मत: परामतावलम्बियों के तो समूहों-के-समूह अतीत में हिन्दू धर्म में लिए गए हैं और यह उपक्रम आज भी चल रहा है।

मेरी अपनी राय में, यह विधान न केवल आदिम जातियों, सीमान्त के राष्ट्रों और मुसलमानी विजय से पहले के लगभग सभी विजेताओं पर लागू होता है, वरन् उन जातियों के लिए भी सत्य है, जिनकी पुराणों में विशेष प्रकार से उत्पत्ति बताई गई है। मैं समझता हूँ कि वे लोग बाहर के थे और इस प्रकार स्वीकृत कर लिए गए।

निश्चय ही प्रायश्चित्त का अनुष्ठान अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन करनेवालों के अपने मातृधर्म में लौटने के लिए उपयुक्त है; पर उन लोगों के लिए जो विजय के द्वारा जैसे कि कश्मीर और नेपाल में – हमसे अलग कर दिये गए हैं, अथवा उन नये लोगों के लिए जो हममें सम्मिलित होना चाहते हैं, किसी प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।

हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने के लिए संघर्ष और प्रयत्न में निहित नहीं है, वरन् वह साक्षात्कार है, वह केवल विश्वास कर लेना नहीं है, वह होना और बनना है।

❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖

रामकृष्ण प्रार्थना

रवीन्द्रनाथ गुरु

राम राम ते नमः कृष्ण कृष्ण ते नमः
हेऽवतार संवरिष्ठ! रामकृष्ण ते नमः (ध्रुवम्)

– हे राम! आपको बारम्बार प्रणाम है। हे कृष्ण! आपको बारम्बार प्रणाम है। हे अवतार-वरिष्ठ श्रीरामकृष्ण! आपको बारम्बार प्रणाम है।

उद्धरात्म-संविदं सारमर्म मोक्षद!
शिक्षय त्वमिष्टकर्म सिद्धिदं सुखास्पदम्
आशिषं परं मुदं वर्ष वाक्सुधाम्बुद!
एह्यनन्यचित्त शाक्त! कालिकाङ्घ्रिषट्पद ।।१।।

– हे मोक्ष के प्रदाता! आत्मज्ञान के सारमर्म का उद्धार कीजिए। आप सिद्धि तथा सुख प्रदान करनेवाले अभीष्ट निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दीजिए। हे वचनामृत की वर्षा करनेवाले मेघ! अपने आनन्दमय शुभाशीर्वाद की वर्षा कीजिए। हे शक्ति के अनन्य उपासक! हे काली के चरण-कमलों के भृङ्ग! आप हमारे हृदय में आइए।

शारदासुवल्लभ! रामकृष्ण माधव!
सर्वधर्ममूर्तरूप! ज्ञान-भक्तिदो भव
एहि विश्वबान्धव! आर्यभूमिगौरव!
हेऽवतारश्रेष्ठ-ब्रह्मचर्यनिष्ठ-मानव! ।।२।।

– हे माँ-सारदा के प्राणवल्लभ, भगवान श्रीरामकृष्ण! हे सर्वधर्मों की प्रतिमूर्ति! आप हमें भक्ति-ज्ञान प्रदान कीजिए। हे विश्व के बन्धु! हे आर्यभूमि के गौरव! हे अवतार-वरिष्ठ! वे ब्रह्मचर्य-निष्ठ नरदेव! मेरे हृदय में आइए।

त्वत्समो न पुण्यवान् एहि भोः पुनर्भवान
त्वं विवेक ज्योतिरेव, बोधयात्र चाश्रितान्
काम-मोह किङ्करान् पाहि पुण्यवर्जितान्
स्थापयासु धर्ममेव रक्ष धार्मिकान्नरान् ।।३।।

– आपके समान पुण्यवान व्यक्ति इस पृथ्वी पर नहीं है, अतः आप पुनः यहाँ आइए। आप ही विवेक-ज्योति हैं, यहाँ (पृथ्वी में) अपने चरणाश्रितो को उपदेश दीजिए। मेरे सदृश काम-मोह के किङ्कर (दास) – पापियो की आप रक्षा कीजिए, संसार में शीघ्र ही सनातन सार्वभौम मानव-धर्म की स्थापना कीजिए और समस्त धर्म-परायण सज्जनों की रक्षा कीजिए।

अंगद-चरित (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके छठवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

हनुमानजी ने जब बन्दरों से यह कहा – देखो, जल के पक्षी गुफा में भीतर जा रहे हैं तो भीतर जल अवश्य होगा। पर बन्दरों के मन में यह प्रश्न उठा – महाराज, ये जो पक्षी जा रहे हैं, पर लौटकर तो एक भी नहीं आ रहा है। लौटकर न आने का क्या अभिप्राय है? – यह कि संसार में जो प्यास बुझाने जाएगा, वह लौटकर तो आएगा ही, पर भगवान की कृपा से जो प्यास बुझाने जायेगा, वह तो तृप्त हो जायेगा, उसका तो लौटकर आने का प्रश्न ही नहीं है। हनुमानजी ने कहा – यहाँ इतना दिव्य जल है, इतने सुन्दर फल हैं कि पक्षी वहीं रह जाता है, लौटकर आने की जरूरत ही नहीं रह जाती।

जब गुफा में प्रवेश करने की बारी आई, तो अंगद ने कहा – गुफा के अन्दर जल होने की बात तो ठीक लगती है, पर मैं गुफा के अन्दर जाने से बहुत डरता हूँ। – आप और गुफा से डरते हैं? वे बोले – "हाँ, हमारे परिवार में जितने भी झगड़े हुए, जितनी भी दुर्घटनाएँ हुईं, वे सब मेरे पिता के गुफा में जाने से ही तो हुईं। कहीं ऐसा न हो जाय कि इस गुफा में भी कोई ऐसी बात हो जाय कि कोई नया संघर्ष शुरू हो जाय। इसलिए अब तो हनुमानजी ही आगे चलेंगे।" गोस्वामीजी से पूछा गया कि अब आगे क्या पवनसुत चल रहे हैं? बोले – नहीं, अब पवनसुत नहीं। – तो कौन चल रहे हैं? बोले – अब तो हनुमानजी को आगे कर लिया –

आगें कै हनुमंतहि लीन्हा।
पैठे बिबर बिलंबु न किन्हा।। ४/२४/८

उनका नाम हनुमान क्यों पड़ा? हनु कहते हैं ठोढ़ी को। इन्द्र ने जब हनुमानजी पर वज्र से प्रहार किया, तो उनकी ठोढ़ी से लगकर वज्र के दो टुकड़े हो गए। उसी समय से उनका नाम पड़ गया हनुमान। अंगदजी तथा बन्दरों ने कहा – महाराज, आप हनुमान हैं, आप तो वज्र के भी टुकड़े टुकड़े कर सकते हैं, अत: यदि कोई इस गुफा में भी वज्र चला दे, तो आप उसके टुकड़े कर देंगे। अब आप ही आगे चलिए। हनुमानजी में जितना उत्कृष्ट विचार है, उतना ही उत्कृष्ट विश्वास भी है। इसलिए कोई डर नहीं है। वे तो कृपा में परम विश्वासी हैं। जो व्यक्ति स्वयं को बड़ा विद्वान् मानता है, वह अँधेरे से घबराता है कि पता नहीं अँधेरे में क्या हो? पर कृपा का विश्वासी कहता है कि हमारे प्रभु तो अँधेरे में भी हैं और उजाले में भी, चिन्ता की क्या बात है? यह हनुमानजी की भूमिका है।

अब स्वयंप्रभा की भूमिका क्या है? वे कृपा-गुफा के भीतर बैठी हैं। नाम भी कितना सुन्दर है! तात्पर्य यह कि भगवान की कृपा स्वयंप्रभा है। स्वयंप्रभा का क्या अर्थ है? जैसे किसी भी वस्तु को देखने के लिए हमें प्रकाश की जरूरत होती है, पर प्रकाश को देखने के लिए और किसी प्रकाश की जरूरत नहीं होती, प्रकाश स्वयं अपने प्रकाश के रूप में दिखाई देता है। संसार में हम जिन वस्तुओं को प्रकाश में देखते हैं, उनमें स्वयं में प्रकाश नहीं होता। उन्हें देखने के लिए बाहरी प्रकाश की आवश्यकता होती है। संसार के जितने साधन हैं, वे स्वयंप्रभा नहीं हैं। उनमें तो किसी-न-किसी व्यक्ति की योग्यता और पुरुषार्थ है, पर भगवत्कृपा को देखने के लिए किसी अन्य प्रकाश की जरूरत नहीं है। वह तो स्वयंप्रभा है – जैसे दीपक के प्रकाश के लिए दीपक, घी और बाती की जरूरत होती है, ईश्वरकृपा स्वयं-प्रकाशमान है, उसे प्रकाशित करने के लिए वैसी किसी वस्तु की जरूरत नहीं है –

परम प्रकास रूप दिन राती।
नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।। ७/१२०/३

उस अँधेरी गुफा में प्रविष्ट होकर बन्दरों ने भगवान की कृपा को, स्वयंप्रभा के उस दिव्य प्रकाश को देखा –

दीख जाइ उपबन बर सर बिगसित बहु कुंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तप पुंज।। ४/२४
दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा।
पूछें निज वृत्तान्त सुनावा।।
तेहिं तब कहा करहु जल पाना।
खाहु सुरस सुंदर फल नाना।। ४/२५/१-२

सबने दूर से ही उन्हें प्रणाम किया। उनके पूछने पर इन लोगों ने अपने आने का कारण बताया। वे बोलीं – यह जो दिव्य जल बह रहा है और इस प्रेम-वाटिका में प्रेम और भक्ति के जो दिव्य फल लगे हुए हैं, उनका रसस्वादन कीजिए और तब आप लोग तृप्त होकर मेरे पास आइए। यह जो जल है, दिव्य प्रेम और भक्ति का जल है –

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।। ७/४९/६

वे लोग जब तृप्त होकर स्वयंप्रभा के पास आए और उनसे **कहा कि हम** लोग सीताजी की खोज में निकले हैं, एक महीना बीत चुका **है**, पर सीताजी नहीं मिलीं। अब हमें कुछ सूझ नहीं रहा **है** कि हम क्या करें, कहाँ जायँ ! तब स्वयंप्रभा ने बन्दरों से पूछा – अच्छा, आप लोग सीताजी को आँखें खोलकर ढूँढ़ **रहे हैं या आँखें बन्द** करके? यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को ध्यान से न ढूँढ़े, तो सामनेवाला व्यक्ति कभी कभी व्यंग्य कर देता **है** कि आँखें खोलकर ढूँढ़ रहे हो कि आँखें बन्द करके। इसी प्रकार जब स्वयंप्रभा ने पूछा, तो बन्दरों ने कहा – "आप कहती क्या हैं? आँखें बन्द करना तो दूर, हमने तो क्षण भर के लिए भी पलक तक नहीं झपकाया है।"

तो स्वयंप्रभा ने एक बड़े महत्त्व का सूत्र दिया। वे बोलीं – **अब** मेरी एक बात मानो। – कौन-सी? – **मूदहु नयन** – आँखें खुली बहुत रख चुके, अब जरा आँखें मूँदो। बस, यही है विश्वास और विचार का अन्तर। **विचार माने आँख खोलना और विश्वास माने आँख मूदना। दोनों अपने अपने स्थान पर बड़े महत्त्व के हैं।** समय पर आँख खोलिए, यह भी आवश्यक है, पर समय पर मूँदिए भी। सड़क पर चल रहे हो और मूँद लिया, तो ठोकर खाकर गिर पड़ोगे और पलंग पर लेटकर आँख खुली रखोगे, तो रात भर नींद नहीं आएगी, आराम से वंचित रह जाओगे। **जीवन में जब कर्म करना हो, तो विचार कीजिए और जब विश्राम पाना हो तब सब छोड़कर भगवान पर विश्वास कीजिए।** किसी ने व्यासदास जी से पूछा कि आप इतने निश्चिन्त कैसे रहते हैं? तो उन्होंने यही कहा – मैं तो श्री राधारानी के भरोसे पैर पसार कर सोता हूँ –

काहू के बल भजन को काहू तप आधार।
व्यास भरोसे कुँवरि के सोवत पाँय पसार।।

यह विश्वास की ओर संकेत करता है। स्वयंप्रभा ने बन्दरों से कहा कि आप लोगों ने प्रयत्न किया, विचार किया, सत्कर्म किया; लेकिन अन्त में भक्ति की प्राप्ति तो बिना विश्वास के नहीं होगी। यह विश्वास आप लोग जीवन में ले आइए। अब बन्दर इसी सूत्र को लेकर चले। पर एक बात ध्यान देने की है। साधारण व्यक्ति सोचता है कि विश्वास सरल है और विचार कठिन, पर यह बात बिल्कुल उल्टी है। **विचार करना सरल हो सकता है, पर विश्वास करना बहुत कठिन है,** क्योंकि विचार करनेवाला व्यक्ति तो गणित के आधार पर चल सकता है, पर विश्वास-मार्ग कितना कठिन है, यह तो बाद में ही पता चलता है। बन्दरों ने विश्वास का मोटा मोटा अर्थ लिया। स्वयंप्रभा ने कहा – आँखें मूँदिए, तो सब थके हुए थे ही, आँखें तो मूँद ली। लेकिन अगले ही क्षण? गोस्वामीजी व्यंग्यपूर्वक कहते हैं – एक मिनट आँख बन्द की, फिर आँख खोलकर देखने लगे कि सीताजी मिली की नहीं –

नयन मूदि पुनि देखहिं बीरा। ४/२५/६

इसका अभिप्राय है कि लोग सोचते है कि विश्वास करें, पर तत्काल ही देखना चाहते हैं कि विश्वास का फल मिला या नहीं। थोड़ी देर विश्वास करके शीघ्र ही उसका परिणाम चाहते हैं। विश्वास करना बड़ा कठिन है। वस्तुत: **विश्वास तो अन्तिम वस्तु है। वह तो ज्ञान का चरम फल है।** जिसने पूरी तरह से जान लिया, उसे ही सही अर्थों में विश्वास होता है।

जब भगवान कृपा करते हैं, तब व्यक्ति को ज्ञान मिलता है। ज्ञान होने पर विश्वास होता है। विश्वास होने पर प्रीति होती है और प्रीति होने पर भगवान की भक्ति में दृढ़ता आती है। यह क्रम है साधना का। बन्दर आँख खोलकर देखने लगे कि सीताजी कहाँ हैं। पर सीताजी तो दिखाई नहीं पड़ीं। दिखाई क्या पड़ा? – देखते हैं कि सामने समुद्र है। बन्दर अपने को समुद्र के सामने खड़े हुए पाते हैं। वह कोई सरोवर नहीं, समुद्र था। अरे यह तो उल्टा हो गया। सरोवर में तो मीठा जल था, पर यहाँ तो समुद्र में खारा जल है, पर इस खारे जल के अन्तराल मे ही सीताजी हैं। वहाँ भी उस वाटिका में मीठे फल हैं, वहाँ भी बड़ी दिव्य तृप्ति है और वह तृप्ति लंका में भी है। विचित्रता यह है कि स्वयंप्रभा के पास जैसा वातावरण दिखाई दे रहा था, यहाँ उससे भिन्न वातावरण है। इस भिन्न वातावरण को, इस अथाह जलराशि को देखकर बन्दर घबरा जाते हैं, उनमें नैराश्य उत्पन्न होता है। स्वयंप्रभा ने तो कहा था कि सीताजी मिलेंगी, पर कहाँ है सीताजी?

अब यहाँ पर एक नई भूमिका आ गई। गोस्वामीजी कहते हैं – अपने अपने स्थान पर सबकी अपनी अपनी भूमिका है। यहाँ एक दूसरे गिद्ध की भूमिका आई। क्या है उनकी भूमिका? मुख्य बात वही है कि हमारी जो क्षमता है, उसमें हम कृपणता न करें, उसका सदुपयोग करें और जो क्षमता हममें नहीं है, उसे करने का दुस्साहस न करें। अभिप्राय यह है कि यदि हममें क्षमता नहीं है और किसी दूसरे को देखकर उसकी नकल करने की कोशिश करेंगे, तो वस्तुत: हम उस कार्य को पूरा नहीं कर सकेंगे। स्वयं को भी कष्ट पहुँचायेंगे और कार्य भी बिगाड़ेंगे। अब यहाँ पर संकेत क्या है? बन्दरों की भी अपेक्षा है और गिद्ध की भी। यहाँ जो सम्पाती गिद्ध है, वह पंखरहित भी है और बूढ़ा हो गया है। पंख नहीं है, तो भी सहायक बन सकता है। उसमें जो क्षमता है, उस क्षमता के अनुरूप उसने बता दिया कि समुद्र के बीच वह लंका है, लंका में अशोक-वाटिका है, वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे सीताजी बैठी हुई हैं। बन्दर बेचारे नहीं देख पाते। तब गिद्ध ने कहा – मैं देख रहा हूँ, पर तुम लोग नहीं देख पा रहे हो –

मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार। ४/२८

क्यों? गीधहि दृष्टि अपार माने? – विचार की दृष्टि। विचार माने स्वयं अपनी आँख से देखना और विश्वास जिसे हम नहीं देख पाते और उसके बारे जब कोई विश्वस्त व्यक्ति

हमें बता दे, तो उसे मान लेते हैं। जिसको हम प्रत्यक्ष देखते हैं, वहाँ पर विश्वास की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे तो हम देख ही रहे हैं। सम्पाती ने यही कहा कि यदि आप लोगों को सीताजी नहीं दिखाई दे रही हैं, तो आप मेरी बात पर विश्वास कर लीजिए। मेरी आँख में यह शक्ति है। सम्पाती तीव्र विचार शक्तिवाला व्यक्ति है। बन्दरों के मन में थोड़ा-सा आलस्य आ गया। बोले – जब आप सीताजी को देख रहे हैं, तो आप ही जरा चले जाइए और सीताजी से भेंट करके उनसे सन्देश भी ले आइए। तब गिद्ध ने कहा – भाई मेरा काम बस, इतना ही था। शब्द वहाँ बड़ा सुन्दर आया है – **वचन सहाय करौं मैं** – मैं तो केवल शब्दों से ही सहायता कर सकता हूँ, इससे आगे नहीं। शब्द का भी बड़ा महत्त्व है। रामायण में एक बड़ी सुन्दर बात कही गई है – आप अच्छी बातें कहिए, अच्छी बातें सुनिए और उसे क्रियान्वित करने की क्षमता न हो तो कम-से-कम उसका समर्थन कीजिए –

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ७/१२९/६

अच्छी बात स्वीकार करने का संकल्प जरूर करें। उसका भी महत्त्व है। ऐसा न समझें कि कोई ऊँचा विचार देता है, तो उसका कोई महत्त्व नहीं है। कोई व्यक्ति अपने विचार को क्रियान्वित भी करता है और कोई केवल विचार देता है और दूसरे उसे क्रियान्वित करते हैं। ऐसी स्थिति में जिसने विचार दिया, वह कह सकता है – "भाई, मैंने आपको विचार दे दिया है, **बूढ़ भयउँ** – देख लो, हम तो बूढ़े हो गए हैं, अब हममें पुरुषार्थ और कर्म करने की क्षमता नहीं है, पर हाँ, आप लोग मेरे इस सूत्र के आधार पर सीताजी की खोज कीजिए।" साथ ही उसने आश्वासन दे दिया – चार सौ कोस के समुद्र को जो पार करेगा, वही व्यक्ति सीताजी का दर्शन करेगा –

जो नाघइ सत जोजन सागर।
करइ सो राम काज मति आगर।। ४/२९/१

बन्दरों के मुख पर फिर हताशा का भाव आ गया। सम्पाती ने कहा – मुझे देखकर धैर्य धारण करो; देखो, मेरा शरीर कैसा था और श्रीराम की कृपा से अब कैसा हो गया –

मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।
राम कृपाँ कस भयउ सरीरा।। ४/२९/२

बात यह थी कि गिद्ध ने जब बन्दरों को सीताजी का पता बताया, तो अचानक गिद्ध के पंख निकल आए और तब गिद्ध ने अपने पंख दिखाकर बन्दरों से कहा कि इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? यह जो बड़े बड़े महापुरुषों के जीवन में बड़े चमत्कार होते हैं, भगवान की अलौकिक कृपा होती है, असम्भव भी सम्भव होता दिखाई देता है। गिद्ध ने उसकी ओर ध्यान दिलाया। बोले – भला सोचिए तो, हमने और कुछ नहीं केवल शब्दों के द्वारा आपकी सहायता की और इतने में ही प्रभु की इतनी कृपा हुई कि पंख निकल आए। और जब आप सचमुच उसे क्रियान्वित करने चलेंगे, तब समुद्र लाँघने के लिए क्या आप लोगों को पंख नहीं मिलेंगे? आपको भी पंख मिलेंगे, पर इसके लिए विश्वास होना चाहिए। बस, मुख्य कठिनाई यहीं आती है। विचार भी मिल गया, सूत्र भी मिल गया, पर जब विश्वास की बारी आती है, तब उस विश्वास की क्षमता अंगद से लेकर किसी भी बन्दर में नहीं है।

जाम्बवान जी की भूमिका अलग है। वे बूढ़े हो गए हैं, अतः उन्होंने समुद्र को पार नहीं किया। पर जब हनुमानजी को सम्मति लेना हुआ, तो उन्होंने जाम्बवान जी से ही पूछा –

जामवंत मैं पूँछउँ तोही।
उचित सिखावनु दीजहु मोही।। ४/३०/१०

बूढ़े जाम्बवान यात्रा भले ही न कर सकें, भले ही समुद्र के पार न जा सकें, पर हनुमानजी को सम्मति तो दे सकते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए। सम्पाती की भूमिका यह है कि वह संकेत दे सकता है कि सीताजी कहाँ हैं, पर अन्ततः मुख्य समस्या यही है कि उसके कह देने के बाद भी किसी भी बन्दर में उस विश्वास का उदय नहीं हुआ, जिस विश्वास के बल पर वे समुद्र पार कर सकें। वह विश्वास तो हनुमान जी के चरित्र में ही घनीभूत है। हनुमान जी परम विश्वासी हैं। उनमें तो विचार और विश्वास दोनों चरम सीमा पर है, पर मुख्य रूप से जो विश्वासी होगा, वह सरल अवश्य होगा। यह विश्वास भक्ति की परम्परा से जुड़ा हुआ है। भक्ति का सर्वोत्तम रूप शबरी के प्रसंग में आता है – नवीं भक्ति है जीवन में समग्र सरलता –

नवम सरल सब सन छलहीना। ३/३६/५

यह सरलता और विश्वास हनुमानजी के जीवन में विद्यमान है और इसी विश्वास के आधार पर हनुमानजी समुद्र पार करके लंका में जाते हैं। वहाँ पर सांकेतिक भाषा थोड़ी भिन्न भी है। हनुमानजी रावण की सभा में भी गए, पर वहाँ उनकी चतुराई और विश्वास – दोनों का सामंजस्य दिखाई देता है। रावण की सभा में बँधकर जाने में विश्वास दिखाई देता है। इसका अर्थ यह है कि खुले रहकर हम बच सकते हैं, यह तो किसी के भी समझ में आ सकता है, पर बँधे रहकर भी कोई विश्वासी ही सोच सकता है कि कोई रक्षा करनेवाला रक्षा कर सकता है। यह हनुमान जी का चरम विश्वास है। दूसरी ओर विचार की दृष्टि से भी हनुमान जी के पास बड़ा सुन्दर तर्क था। यदि कोई हनुमानजी से पूछता – आपको तो केवल सीताजी के पास भेजा गया था, आप रावण के पास कैसे चले गए? तो हनुमानजी कहते – मैं तो सीताजी के पास ही गया था, रावण के पास तो मैं स्वयं नहीं गया, बल्कि ले जाया गया था।

यहाँ पर सूत्र यह है कि रावण की सभा में हनुमानजी का रावण से वार्तालाप होता है और अशोक वाटिका में सीताजी से भी, पर दोनों में एक अन्तर है। यही हनुमानजी की दोहरी भूमिका है। भक्ति के समक्ष कितनी सरलता, कितना विश्वास

चाहिए, हनुमानजी ने अपनी विश्वासमयी वाणी के द्वारा जनक-नन्दिनी सीताजी में विश्वास का संचार किया। भगवान श्रीराघवेन्द्र जानते थे कि यह अंगद के लिए सम्भव नहीं है। स्वयं अंगद में ही अभी वह विश्वास नहीं आया है, तो दूसरों को वे कहाँ से देंगे। अभिप्राय यह कि विश्वास पर भाषण देना और बात है, उसका भी महत्त्व है, सुनकर भी आनन्द आता है, पर विश्वास का जिनको प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, वे तो हनुमानजी ही हैं। पग पग पर जितने विघ्न आए, उन सभी को पार करते हुए अन्त में वे सीताजी के पास पहुँच जाते हैं। यह हनुमानजी के विश्वास का ही चरम उत्कर्ष है। इसलिए तो कबीर का वह दोहा बड़ा प्रसिद्ध है। किसी ने कबीर से कहा – आप जो कह रहे हैं, वह कहाँ लिखा है? हमारे यहाँ शास्त्र-प्रमाण देने की बड़ी पुरानी परम्परा है। वह भी ठीक है। इसके द्वारा न जाने कितने लोग कितनी बातें जानते हैं। लेकिन कबीर एक दूसरी भाषा का इस्तेमाल करते हैं। उन्होंने पलट कर कहा – यह जो मैं कह रहा हूँ, वह लिखा-लिखी नहीं है। – तब क्या है?

लिखा लिखी की है नहीं देखा देखी बात ।
दूल्हा दूल्हन मिल गए फीकी पड़ी बारात ।।

वे बोले – भई, बारात की बात तो तभी तक है, जब तक वर-कन्या नहीं मिल गए। अब दूल्हा-दूल्हन मिल गए, इसके बाद – 'बारात कैसी थी और कैसा उसका स्वागत हुआ' आदि बातों का तो महत्त्व नहीं है। मैं जो कह रहा हूँ, वह देखा देखी बात है। कागभुशुण्डि भी गरुड़जी से यही कहते हैं – यह मेरे जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव है –

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा ।
बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा ।। ७/८९/५
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी ।
यह सब मैं निज नयनन्हि देखी ।। ७/९१/२

यह जो अनुभव की वाणी है, हनुमानजी की वाणी में सचमुच इतना विश्वास है कि गोस्वामीजी कहते हैं –

कपि के बचन सप्रेम सुनि
उपजा मन बिस्वास । ५/१३

ऐसा विश्वास हनुमान जी में है कि श्री सीताजी के हृदय का जो विश्वास खो गया था, उसे उन्होंने फिर लौटा दिया। वे रावण की सभा में भी गए और वहाँ भगवान के पौरुष तथा पराक्रम का भी परिचय दिया।

सीताजी को कथा सुनाने के बाद बाग उजाड़कर लंका जलाने से हनुमान जी का क्या अभिप्राय था? यह कि भाषण के द्वारा तो मैंने प्रभु का पौरुष तथा पराक्रम बता ही दिया, पर अब जरा प्रत्यक्ष भी दिखा दूँ कि उनका कैसा प्रताप है, कैसी क्षमता है। सचमुच हनुमानजी वहाँ से ये दोनों कार्य – रावण से वार्तालाप तथा उसकी स्वर्णमयी लंका को जला करके और माँ का आशीर्वाद प्राप्त करके, विचार और विश्वास की समग्रता में लौटकर आते हैं। लेकिन अंगद? उन्होंने भी अपने जीवन में ऐसी लम्बी छलाँग लगायी, जैसी बालि के जीवन में लगी थी। हनुमानजी के सान्निध्य में अंगद ने भी वस्तुतः वही क्षमता पा ली। यह अंगद के जीवन का बहुत बड़ा चमत्कार है। और वह क्षमता उन्हें कैसे मिली? हनुमानजी जब आकाश पथ से लौटने लगे, तो उनका रूप परम तेजोमय दिखाई दे रहा है –

मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा ।
कीन्हेसि रामचन्द्र कर काजा ।। ५/२८/४
मिले सकल अति भए सुखारी ।
तलफत मीन पाव जिमि बारी ।। ५/२८/५

सभी लोग उनसे ऐसे मिले मानो सूखे में तड़प रही मछली को जल मिल गया हो। अंगदजी ने बड़े प्रेम से उनसे पूछा – "महाराज, आप इतनी कठिन यात्रा करके लौटे, जरा उस यात्रा का अनुभव तो सुनाइए। हम लोग यात्रा नहीं कर पाए तो कम-से-कम वर्णन का आनन्द तो ले ही लें।" और जब हनुमानजी ने सचमुच लंका-यात्रा की पूरी कथा सुनाई –

चले हरषि रघुनायक पासा ।
पूँछत कहत नवल इतिहासा ।। ५/२८/६

बन्दर पूछते जाते हैं और हनुमानजी उन्हें कथा सुनाते हुए चल रहे हैं। पूरी कथा सुनकर अंगद तो ऐसे बदले कि सचमुच ही चमत्कार हो गया, वे इतने बड़े विश्वासी हो गए कि बाद में प्रभु ने उन्हें राजदूत बनाकर लंका भेजा। चतुर तो वे पहले से ही थे, पर हनुमानजी के चरित्र से उन्होंने ऐसी प्रेरणा ली कि वे भी महानतम विश्वासी हो गए।

भगवान श्रीराघवेन्द्र ने अंगद को राजदूत बनाकर रावण की सभा में भेजा। यह किसकी परीक्षा थी? अंगद ने रावण की परीक्षा ली, पर वस्तुतः यह अंगद के विचार और विश्वास की परीक्षा थी। अंगद पर तो हनुमानजी की कथा का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने तत्काल उसे क्रियान्वित करना आरम्भ कर दिया। कैसे? कथा समाप्त होते होते वे लोग किष्किंधा पहुँच गए। वहाँ सुग्रीव का जो बाग था, वह नगर से बाहर था। अंगद ने कहा – सुग्रीव से तो बाद में मिल लेंगे, चलो पहले इस बाग के फल खा लें। बन्दरों ने कहा – महाराज, पहरेदार हैं, बिना सुग्रीव की आज्ञा के ये हमें फल नही खाने देंगे। अंगद ने कहा – "अभी तुमने कथा नहीं सुनी? हनुमानजी ने क्या रावण से पूछकर उसकी वाटिका के फल खाए थे? जरा सोचो तो, हनुमानजी माँ-जानकी का दर्शन करके आए हैं, उनकी भूख मिट गयी, पर हम लोग तो दर्शन नहीं कर पाए, पर उनका दर्शन करके जो आए हैं, उनका दर्शन तो हम कर रहे हैं।" इसका अभिप्राय यह है कि, जिन्हें भक्ति प्राप्त हो गयी है, ऐसे सन्त के दर्शन से भक्ति देवी के दर्शन का ही फल मिलता है। जिन्हें भक्ति नहीं मिली है, वे भक्त सन्त के दर्शन से भक्ति लाभ कर सकते हैं। हनुमानजी तो अपनी भूख

मिटाकर आए हैं, तो भला ऐसे सिद्ध पुरुष का, जिन्होंने भक्ति पा ली है, दर्शन के बाद भी क्या हम लोग भूखे ही रहेंगे? गोस्वामीजी (वि.प. ५८) तुलना करके बताते हैं – सुग्रीव ज्ञान के स्वरूप हैं और रावण है मोह –

ज्ञान-सुग्रीवकृत जलधिसेतू । मोह-दशमौलि ।।

मोह की वाटिका में भी हनुमानजी ने मधुर फल खाए। वहाँ पर तो चुनाव करने की भी आवश्यकता थी। माँ ने सूत्र दिया। बोलीं – बेटा हनुमान, इस वाटिका में केवल मधुर फल नहीं हैं, कड़वे फल भी हैं। इसलिए तुम्हें दो बातों का ध्यान रखना है। एक तो तुम्हें मीठे फल का चुनाव करना है और उसके साथ साथ खाने से पहले उसे भगवान को अर्पण करना है। उनका आदेश था – प्रभु के चरणों को हृदय में धारण कर मधुर फल को खाना –

रघुपति चरन हृदयँ धरि
तात मधुर फल खाहु ।। ५/१७

सचमुच मोह की वाटिका में मधुर फल ढूँढ़ना तो माँ की कृपा प्राप्त हनुमानजी जैसे सन्त के लिए ही सम्भव है। भक्ति की अतुलनीय कृपा से ही यह सम्भव है। यह जीवन ही **मोह की वाटिका** है और इसमें निरन्तर न जाने कितने कटु फलों का सेवन करना पड़ता है।

परन्तु सुग्रीव की जो वाटिका है, इसका तो नाम ही है – 'मधुवन' और यह **ज्ञान की वाटिका** है। ज्ञान की वाटिका में सर्वत्र मधुरता ही मधुरता है। अंगद का तात्पर्य यह था कि माँ की कृपा से यदि मोह की वाटिका में तृप्ति मिल सकती है, तो फिर इस ज्ञान की वाटिका में हनुमानजी जैसे सन्त के मिलन से क्यों नहीं मिलेगी? सारे बन्दर मधुवन के फलों को तोड़-तोड़कर खाने लगे। पहरेदार तो वहाँ भी थे। रावण की वाटिका के पहरेदारों ने हनुमानजी को रोका था और सुग्रीव की वाटिका के पहरेदारों ने भी बन्दरों को रोका। अंगदजी ने कहा – थोड़ी इनकी भी पूजा कर दो, थोड़ी मरम्मत कर दो, पर देखो, ऐसा न मारना कि मर ही जायँ। इसका अर्थ है कि वहाँ राक्षसों के रूप में दुर्गुण-दुर्विचार थे, उनको तो हनुमानजी ने मार ही डाला, दुर्गुण-दुर्विचारों को मिटा देना ही ठीक था, परन्तु सद्गुणों पर तो केवल थोड़ा-सा प्रहार भर करना पड़ता है, ताकि अभिमान जरा कम हो जाय। ये सद्गुण-रूपी पहरेदार अभिमान के कारण भक्ति की महिमा को नहीं समझ रहे हैं, इसलिए फूले हुए हैं। पहरेदारों ने पहले तो बन्दरों को मना किया, परन्तु मुष्टि-प्रहार पाकर भाग खड़े हुए और सुग्रीव से बोले – युवराज अंगद वाटिका को उजाड़ रहे हैं –

रखवारे जब बरजन लागे ।
मुष्टि प्रहार हनत सब भागे ।। ५/२८/८

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज । ५/२८

सुग्रीव और अंगद में थोड़ी दूरी थी। पहरेदार जाकर सुग्रीव से कह सकते थे – महाराज, हनुमानजी सहित सारे बन्दरों ने मधुवन का फल खा लिया। पर उन्होंने जाम्बवन्तजी, हनुमानजी का नाम नहीं लिया। कहा कि अंगद ने आपका बाग उजाड़ दिया। झगड़ा बढ़ाने की चाल यह है कि सुग्रीव क्रोधित होकर अंगद को दण्ड देने का आदेश दें। पर रावण और सुग्रीव में बहुत बड़ा अन्तर है। रावण तो चिढ़ गया कि मेरी वाटिका के फल किसने खाए? और सुग्रीव ने जब सुना कि बन्दरों ने मेरी वाटिका के फल खा लिए तो सोचा – जरूर वे लोग किशोरीजी का दर्शन करके, उनकी कृपा का सन्देश लेकर आए हैं –

सुनि सुग्रीव हरष कपि
करि आए प्रभु काज । ५/२८

भक्ति के बिना तृप्ति कहाँ! भक्ति के बिना मधुर फल का स्वतन्त्र आस्वादन कहाँ! उनका स्वागत हुआ। यहाँ अंगद ने हनुमानजी से कथा सुनकर, उसे तत्काल क्रियान्वित किया और जब रावण की सभा में राजदूत बनाकर भेजे गए, तो उन्होंने हनुमानजी के वचनों को अपने जीवन में प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। उन्होंने रावण की सभा में अपना पैर रोप दिया और कहा – यदि तुम या तुम्हारी सभा का कोई मेरा पैर उठा लेगा, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा। कितना विचित्र दावा है? वही हनुमानजी की कथा। हनुमानजी की कथा में आया था – उन्होंने रावण को उपदेश दिया था कि तुम भगवान राम के चरणों को हृदय में धारण करो। – श्रीराम के चरणों को हृदय में धारण करने से क्या होगा? हनुमानजी ने कहा – रावण, मैं तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ, तुम्हारा यह लंका का राज्यपद अचल हो जाएगा –

राम चरन पंकज उर धरहू ।
लंका अचल राज तुम्ह करहू ।। ५/२३/१

अंगद ने बस, इसी मंत्र को जोरों से पकड़ लिया। जब हनुमानजी जैसे भक्त ने कह दिया कि भगवान के चरणों को हृदय में धारण करने से पद अचल हो सकता है, तो मुझे तो इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है। अब मैं प्रभु के चरणों को हृदय में धारण करके दिखला दूँगा कि 'रावण, तुम समझ नहीं सके कि हनुमानजी तुमसे कितनी बड़ी बात कह गए। देख लो, भगवान की कृपा से पद कैसे अचल हो जाता है।'

यहाँ पर अंगद की दो प्रकार की भूमिका है, एक विश्वास की और एक विचार की। विश्वास की भूमिका उन्हें हनुमानजी से मिली। पहले तो रावण से चतुराई या विचार की भाषा में बात हुई, परन्तु उसकी समाप्ति विश्वास में हुई।

❖ (क्रमशः) ❖

निर्भयता का गुण

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

निर्भयता मनुष्य की एक अत्यन्त दुर्लभ विभूति है। इसीलिए उपनिषदों में बार बार बड़े ऊर्जस्वित स्वरों में निर्भय होने की सीख दी गई है। भारत में निर्भयता की धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि भले ही शरीर का नाश हो जाए पर आत्मा का कभी भी विनाश नहीं होता। जो नाशवान् है उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है। वह आज नहीं तो कल नष्ट होने वाला है। किन्तु आत्मा तो किसी काल में नष्ट नहीं होती। निर्भयता की यह धारणा आत्मा की अमरता के सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धान्त हममें अद्भुत साहस का संचार करता है। शरीर का चिन्तन दुर्बलता को जन्म देता है, आत्मा का विचार हममें अक्षय शक्ति का संचार करता है। हम मर्त्यशील शरीर नहीं हैं, हम तो अजर-अमर-अविनाशी आत्मतत्त्व हैं। शरीर को तुच्छ मानने से ही महत् कार्य सम्पादित होते हैं। जो शरीर को तुच्छ मानता है, वही त्याग कर सकता है, वही समाजदेवता, राष्ट्रदेवता या विश्वदेवता की सेवा के लिए अपने जीवन को निछावर कर सकता है। शरीर को महान् मानने वाले कभी महान् नहीं बने। शरीर ही आसक्ति का और समस्त दुर्बलता का कारण है। शरीर सबसे पहले हमें इन्द्रियों की तुच्छ सीमा में बाँधता है। उस दायरे से किसी प्रकार निकले, तो परिवार की सीमा हमें बाँध लेती है। उससे आगे किसी प्रकार बढ़ो, तो जाति की दुर्भेद्य दीवार अपने शिकंजे में हमें जकड़ लेती है। आज जाति-वर्ण आदि के भेदों ने राष्ट्र की कैसी दुर्दशा कर रखी है। हमारा सारा चिन्तन इन्हीं तंग दायरों में बँधा होता है। जब तक हम इस सीमा के ऊपर नहीं उठेंगे, तब तक हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद राष्ट्र ऊपर नहीं उठ सकेगा।

साहस दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का साहस है – तोप के मुँह में दौड़ जाना। दूसरे प्रकार का साहस है – अपने को आत्मा मानकर विश्वास करना। कहते हैं कि एक बार सिकन्दर महान् जब भारत आया था तो यहाँ महात्माओं की खोज में लग गया। उसके गुरु ने उससे कहा था कि जब तुम भारत जाओ, तो वहाँ से एक तत्त्वज्ञानी महात्मा को अपने साथ सम्मानपूर्वक लेते आना। उससे तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा। जब सिकन्दर महान् ने एक ऐसे ही महात्मा को खोज निकाला और उन्हें अपने साथ देश ले जाने की इच्छा प्रकट की, तो साधु ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा, "मैं इस वन में बड़े आनन्द से हूँ।" सिकन्दर बोला, "मैं समस्त पृथ्वी का सम्राट् हूँ। मैं आपको असीम ऐश्वर्य और उच्च पद-मर्यादा दूँगा।" साधु बोले, "ऐश्वर्य, पद-मर्यादा आदि किसी बात की मेरी इच्छा नहीं हैं।" तब सम्राट् ने साधु को डर दिखाते हुए कहा, "यदि आप मेरे साथ नहीं चलेंगे, तो मैं इस तलवार से आपको काट डालूँगा।" इस पर साधु बहुत हँसे और बोले, "राजन्! आज तुमने अपने जीवन में सबसे मूर्खतापूर्ण बात कही। तुम्हारी क्या हस्ती कि मुझे मारो? सूर्य मुझे सुखा नहीं सकता, आग मुझे जला नहीं सकती, कोई शस्त्र मुझे काट नहीं सकता, क्योंकि मैं जन्मरहित, अविनाशी आत्मा हूँ।" यह आध्यात्मिक साहस है।

स्वामी विवेकानन्द ऐसा ही साहस अपने देशवासियों में देखना चाहते थे। वे कहते हैं – "हे नर-नारियो। उठो, आत्मा के सम्बन्ध में जाग्रत होओ, सत्य में विश्वास करने का साहस करो। संसार को कोई सौ साहसी नर-नारियों की आवश्यकता है। अपने में वह साहस लाओ जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसका विनाश कर सके। तब तुम मुक्त हो जाओगे।" कवि विवेकानन्द गाते हैं –

साहसी, जो चाहता है नाश, मिल जाना मरण से।
मृत्यु की गत्ति नाचता है, माँ उसी के पा आई॥

❑❑❑

आध्यात्मिक जीवन – क्यों और कैसे (पूर्वार्ध)

स्वामी सत्यरूपानन्द

मनुष्य का जीवन एक ऊर्जा का पुंज है। ऐसी ऊर्जा जो सतत गतिशील है, इसलिए एक निश्चित अवधि में यह समाप्त हो जाएगी। जीवन में ऊर्जा और समय कपड़े के ताने-बाने के समान गुँथे हुए हैं। उसको अलग नहीं किया जा सकता।

दूसरे शब्दों में कहें तो जीवन एक यात्रा है। मनुष्य से भिन्न जितनी भी योनियाँ हैं, चाहे वे पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि निम्न योनियाँ हों अथवा देव-गन्धर्व आदि की उच्च योनियाँ हों, इन सभी योनियों की यात्रा प्रकृति के द्वारा कर्मफल के परिणामस्वरूप संचालित होती है। इस यात्रा में इन प्राणियों की अपनी कोई इच्छा नहीं होती। योनि-विशेष के नियमों के अनुसार उन्हें बाध्य होकर चलना पड़ता है तथा समय आने पर उनकी मृत्यु हो जाती है। इन योनियों में अपने कृत कर्मों का केवल भोग करना होता है। इसलिए ये भोग-योनियाँ कही जाती हैं।

किन्तु मनुष्य-योनि में यह बात नहीं है। मनुष्य-योनि वह योनि है, जहाँ जीव दुराहे पर खड़ा है। वह चाहे तो पशुओं आदि के समान निम्न भोगों में डूब सकता है अथवा देवताओं आदि के समान परिष्कृत किन्तु उच्छृंखल भोगों में डूब सकता है। दूसरा रास्ता यह है कि मनुष्य इन दोनों भोगों से विरत होकर उच्च दिव्य आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर हो सकता है।

यह सर्वथा मनुष्य के स्वयं के ऊपर निर्भर करता है कि वह किस मार्ग का वरण करे। भोग योनियों में डूबकर पतन की गर्त में गिरता जाय या भोगों से विरत होकर दिव्य आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर हो।

चुनाव, निर्णय एवं निर्णय को दृढ़ता पूर्वक जीवन में आचरित करने का संकल्प ही मनुष्य की 'मनुष्यता' है। जिस मनुष्य के जीवन में उपरोक्त तीन बातें, चुनाव, निर्णय एवं आचरण का दृढ़-संकल्प नहीं है, वह देह से भले ही मनुष्य हो, किन्तु आचरण में पशु-तुल्य ही है।

मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह जीवन-यात्रा में किसी भी बिन्दु पर अपनी यात्रा की दिशा बदल सकता है। दिशा बदलने का सारा दायित्व मनुष्य पर ही निर्भर करता है। इसीलिए ऋषि विवेकानन्द जी ने घोषणा की कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।

आध्यात्मिकता क्या है?

भोगों से विरत होकर अपने दिव्य आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही आध्यात्मिकता है। गीता के शब्दों में **स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते** हमारा दिव्य स्वरूप ही हमारा 'स्व'-भाव है। अपने इस स्वरूप से भिन्न अन्य सभी भाव 'पर'-भाव हैं। हमारी देह, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा अहंकार, हमारा अन्तःकरण, यह सारा संसार, यह विश्व ब्रह्माण्ड सभी कुछ 'पर'-भाव हैं। इसलिए अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर इनमें रम जाना, फँस जाना सांसारिकता है, परमार्थ विरोधी भाव है। आध्यात्मिकता से विरुद्ध अन-आध्यात्मिक जीवन है।

इसके विपरीत 'पर'-भाव अर्थात् संसार और सांसारिकता को त्यागकर 'आत्म-भाव' में प्रतिष्ठित हो जाना ही आध्यात्मिकता है।

जीवन क्या है?

हमने संक्षेप में देखा कि आध्यात्मिकता क्या है। अब थोड़ा यह भी विचार कर लें कि जीवन क्या है? वैसे तो विद्वानों और चिन्तकों ने जीवन पर विस्तृत विचार किए हैं, एवं अपने दृष्टिकोण हमारे सामने रखे हैं। हम लोग एक साधक की दृष्टि से इस पर विचार करके देखें।

हम कह सकते हैं कि जीवन परमात्मा द्वारा मनुष्य को दिया गया एक सुअवसर है, जिस सुअवसर का लाभ उठाकर मनुष्य यदि चाहे तो इसी जीवन में सभी प्रकार के बाह्य एवं आन्तरिक दुखों और अभावों से सर्वथा मुक्त होकर जीवनमुक्ति का परम आनन्द प्राप्त कर सकता है।

हमने देखा जीवन एक यात्रा है। मनुष्य दुराहे पर खड़ा एक यात्री है। एक रास्ता बाहर की ओर अर्थात् संसार की ओर जानेवाला है, जिस पर चलने से मनुष्य अन्ततः संसारी होकर संसार-बन्धन में फँसकर जन्म-मरण के महाकष्टकारी चक्र में घुमता-रहता है, पिसता रहता है।

दूसरा रास्ता है भीतर की ओर जाने का – परमार्थ की ओर जाने का। इसे परमार्थ का पथ कहा जाता है। यही आध्यात्मिकता का पथ है।

संसार के भोगों में न डूबकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए अहर्निश सावधानी पूर्वक प्रयत्न करना ही सच्चा जीवन है।

आध्यात्मिक जीवन क्यों?

संक्षेप में जीवन और आध्यात्मिकता के विषय में जान लेने पर एक प्रश्न और भी मन में उठता है कि आध्यात्मिक जीवन ही क्यों? संसार के करोड़ों लोग तो आध्यात्मिक जीवन की चिन्ता न कर आनन्दपूर्वक संसार में सांसारिक जीवन बिताते हुए रहते ही हैं। फिर इन करोड़ों लोगों का रास्ता छोड़कर कुछ व्यक्तियों द्वारा चले जाने वाले आध्यात्मिक मार्ग में क्यों जाया जाय?

इस बात पर थोड़ा विचार कर लिया जाय। हम सभी यह देखते हैं तथा अनुभव करते हैं कि संसार के सभी व्यक्ति सुख चाहते हैं तथा इसी सुख-प्राप्ति के लिए संसारी जीवन व्यतीत करते हैं।

किन्तु क्या संसारी-जीवन व्यतीत करने वाले लोग अपनी सांसारिक सुविधाओं और सुखों से सन्तुष्ट हैं? विचार करने पर तथा अपने अनुभवों पर दृष्टिपात करने पर हम यह स्पष्ट देख पाते हैं कि संसार की सुविधाओं और भोगों में तात्कालिक सुख तो मिलता है, किन्तु कालान्तर में उसका परिणाम दु:ख ही होता है।

दोष-दुःख-अनुदर्शनम्

आध्यात्मिक जीवन बीताने की इच्छा रखने वाले साधक या साधिका को अपनी आध्यात्मिक यात्रा के प्रारम्भ में ही इस ओर विशेष ध्यान देकर इसका अभ्यास नियमित रूप से करना होगा – अर्थात् सदैव इस तथ्य पर दृष्टि रखनी होगी कि यह लुभावना और सुन्दर दिखने वाला संसार, इसमें मिलने वाली सुविधाएँ, इसके आकर्षक विषय-भोग अन्ततः दुखदायी ही होते हैं।

यह इसलिए कि यदि मन के किसी भी कोने में यह आशा, यह आकांक्षा बनी रही कि कदाचित् संसार की सुविधाओं में, संसार के विषय-भोगों में सुख मिलता है या मिल सकता है, तो ये आशा-आकांक्षा एक दिन विषय-भोग में फँसाकर संसार में जकड़ लेगी और ले डूबेगी। पर यदि यह विचार कि संसार के भोगों के परिणाम में दु:ख ही है, जागृत रहा तो वह एक दिन राजकुमार सिद्धार्थ को भगवान बुद्ध बना देता है।

युवक राजकुमार सिद्धार्थ को सांसारिक सुख-भोगों की जो सुविधाएँ उपलब्ध थीं, वे संसार में कितने लोगों को उपलब्ध हैं? राजकुमार सिद्धार्थ ने अपनी युवावस्था में चाहे कुछ ही वर्षों के लिए ही क्यों न हो, जिन सुख-सुविधाओं का उपभोग किया, वह संसार में किसी विरल युवक को ही प्राप्त होती हैं। इतना सब होते हुए भी राजकुमार सिद्धार्थ की दृष्टि तात्कालिक भोगों से हटकर भोगों के दुष्परिणाम दीर्घकालीन दारुण दु:खों की ओर ही गई।

मानव-जीवन की यह एक महान् घटना है, जो हमें सतत् आह्वान कर रही है – मित्रो ! सुख-शान्ति का मार्ग भोगों में नहीं, भोगों के त्याग में ही है। अत: भोगों के दुष्परिणाम पर सतत् विचार करना चाहिए तथा उस विचार के अनुसार अपने जीवन में परिवर्तन लाना चाहिए।

माया मिली न राम

बहुत बार साधक-साधिकाओं के मन में यह विचार आता है कि क्या हम सभी राजकुमार सिद्धार्थ हो सकते है? क्या हम सभी बुद्धत्व प्राप्त कर सकते हैं?

सम्भावना तो यही दिखती है कि हममें से अधिकांश लोग बुद्धत्व प्राप्ति की आशा नहीं कर सकते। इसकी बहुत अधिक सम्भावना है कि हमारा जीवन संयम और तपस्या के द्वारा विषय-भोगों के त्याग के कठिन परिश्रम में ही बीत जाय और हमें इस जीवन में वह सुख और शान्ति न मिल पाय, जिसके लिए हमने संसार-त्याग का कठिन निर्णय युवावस्था में लिया था। जीवन की सन्ध्या में क्या हमें ऐसा नहीं लग सकता कि **'माया मिली न राम'** – जीवन मानो व्यर्थ ही खो गया। न हमें संसार का सुख मिला और न ही हम त्याग का आनन्द ही पा सके।

मित्रो ! यदि हम ऐसी मानसिकता का निरीक्षण और विश्लेषण करके देखें तो हम पाएँगे कि ऐसे व्यक्तियों के जीवन में जिन्हें जीवन की सन्ध्या में 'माया मिली न राम' का निराशाजनक दुखद अनुभव होता है, उन्हें कहीं-न-कहीं संसार से और संसार में सुख की आशा अवश्य थी। कहीं-न-कहीं उनके मन में भोगाकांक्षा अवश्य छिपी थी।

पुरुषार्थं सर्वं सुखम्

हमने यह देखा कि आध्यात्मिक अनुभूति एवं उससे मिलने वाले महान् सुख की उपलब्धि यदि हमें जीवन की सन्ध्या तक न हुई, तो हम निराशा और विषाद से ग्रस्त हो सकते हैं।

यह सम्भावना केवल उन्हीं साधक साधिकाओं के जीवन में हो सकती है, जिन्हें सन्देह एवं आधे मन से आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रयत्न और साधना किया हो।

किन्तु जिन लोगों ने युवावस्था से ही यह दृढ़ विश्वास रखा हो कि वासनाओं को निर्मूल कर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने में ही परम सुख है तथा इसके लिए जिन्होंने आजीवन मन-प्राण पूर्वक प्रयत्न और पुरुषार्थ किया है, उन्हें आजीवन पुरुषार्थ करने का सुख और सन्तोष अवश्य प्राप्त होगा। संसार के अधिकांश प्रौढ़ साधक-साधिकाओं का जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

त्यागम् एव सुखम्

वह कौन-सा रास्ता है, जिसने राजकुमार सिद्धार्थ को भगवान बुद्ध बना दिया? राजपुत्र वर्धमान को महावीर तीर्थकर बना दिया?

वह रास्ता है – त्याग और वैराग्य का, साधना और तपस्या का। उपनिषदों ने भी कहा है कि **त्यागेन-एके-अमृतत्वम्-आनशुः** – त्याग के द्वारा ही अमरता की प्राप्ति होती है। अब प्रश्न यह है कि त्याग क्या है तथा त्याग का अभ्यास जीवन में कब और कहाँ से करें?

यदि हम मनुष्य के व्यावहारिक जीवन पर, उसके दैनन्दिन जीवन पर एक विहंगम दृष्टि भी डालें तो जो चीजे हमें स्पष्ट

दीख पड़ेंगी, वे हैं – (१) जीवन की आवश्यकताएँ और (२) भोग-विलास की अनावश्यक इच्छाएँ और सुविधाएँ।

भोग और योग साथ-साथ नहीं चल सकते। यह असम्भव बात है। यह बात अप्रिय लग सकती है, किन्तु सत्य यही है – कड़वी दवा के समान।

क्या हमारा मन इसके लिए तैयार है? क्या हम दृढ़तापूर्वक यह विश्वास करते हैं कि भोग और योग साथ-साथ नहीं चल सकते? निष्पक्ष और निर्मम होकर हमें स्वयं से यह प्रश्न पूछना होगा। यदि हमें ऐसा लगता है कि इस संसार की सुविधाओं का, विषयों से मिलने वाले भोगों का, थोड़ा भोग कर ही लिया तो बिगड़ता क्या है?

निष्पक्ष होकर विवेचन करने पर हम यही पाएँगे कि कहीं-न-कहीं हमारे मन में यह भावना है कि योग और भोग साथ-साथ चल सकते हैं। हमें यह बात हृदय से सदैव के लिए निकाल देनी पड़ेगी कि योग और भोग साथ-साथ चल सकते हैं।

वस्तुत: योगमय जीवन ही सच्चा जीवन है। अज्ञान या माया के कारण ही हमें संसार के भोगों में सुख का क्षणिक आभास दिख पड़ता है। यह क्षणिक आभास हमारे मन में उठने वाली विभिन्न तृष्णाओं की पूर्ति से होगा, ऐसा हमें लगता है और हम उन तृष्णाओं की पूर्ति के प्रयत्न में लग जाते हैं। तृष्णाएँ कभी तृप्त नहीं होतीं और इसलिए हम तृष्णाओं की पूर्ति के प्रयत्न में निरन्तर लगे रहते हैं। परिणाम अनन्त अतृप्ति ही होता है।

इस शाश्वत अतृप्ति के जाल से छूटने का पहला कदम यह निश्चयपूर्वक विश्वास कर लेना – अपने मन को समझा लेना है कि योग और भोग कभी भी साथ साथ नहीं चल सकते। यह दृढ़ निश्चय ही भोग-तृष्णा को काट देता है तथा हमें त्याग के मार्ग पर प्रेरित करता है।

एकला चलो रे

कविगुरु श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक बड़ी प्रेरक कविता है, जो गाँधीजी को भी अत्यन्त प्रिय थी। उसमें कविगुरु ने यह लिखा है कि – **जदि तोर डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे** – यदि तुम्हारी पुकार सुनकर कोई न आवे, तो तुम अकेले ही चले चलो।

एकला चलो रे – अकेले चलो भाइ। यही आध्यात्मिक यात्रा का मूल-मन्त्र है, रणघोष है। आध्यात्मिक पथ के यात्री को अन्तत: अकेले ही चलना होगा। अकेले चलकर ही गन्तव्य पर पहुँचना होगा। भगवान बुद्ध ने अपने एक शिष्य आनन्द से कहा था – "**आनन्द ! आत्तदीपो भव (आत्मदीपो भव)** – हे आनन्द! स्वयं अपने आप के लिए दीपक बनो अर्थात् अपने विवेक पर आस्था रखकर आत्मविश्वासपूर्वक आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ते चलो। इस मार्ग में अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा न रखो।

आध्यात्मिक मार्ग में साधक या साधिका को अपने बल-बूते पर ही चलना पड़ता है, आगे बढ़ना पड़ता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक मार्ग में परमुखोपेक्षी हो जाता है, जो ऐसा सोचता है कि कोई अन्य व्यक्ति इस मार्ग में उसकी सहायता करेगा, वह व्यक्ति केवल भ्रम का पोषण करता है और हम सभी जानते हैं कि भ्रम व्यक्ति को कभी भी सत्य तक नहीं पहुँचा सकता, सत्य में प्रतिष्ठित नहीं कर सकता।

अत: साधक को आध्यात्मिक मार्ग पर अकेले ही चलना पड़ता है। यहाँ हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि दूसरों के कन्धों पर चढ़कर आज तक कोई भी व्यक्ति महापुरुष नहीं बन सका है, न भविष्य में ऐसा कभी हो सकता है। अध्यात्म के परम गन्तव्य पर तो हमें स्वयं ही चलकर पहुँचना होगा।

पथिक पथ का निर्माण करो

जब यह निश्चित हो गया कि आध्यात्मिक पथ पर साधक को अकेले ही चलना है, तो दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि प्रत्येक साधक-साधिका को अपनी यात्रा का पथ स्वयं निर्माण करना पड़ता है। साधक को गुरु से, किसी अन्य साधक या सहयोगी से मार्ग का निर्देशन भले ही प्राप्त हो जाय, किन्तु जब साधक साधना के मार्ग पर चलना प्रारम्भ करता है, तब उसे पग-पग पर यह अनुभव भी होता है कि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए, बढ़ने के लिए, उसे अपनी यात्रा के साथ मार्ग का निर्माण भी करते हुए चलना पड़ता है। इसे वही साधक समझ पाता है, जो साधना के पथ पर चल रहा है।

यह अन्तर्यात्रा है

कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता से कहा है – अमृतत्व प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले किसी साधक ने **आवृत्त-चक्षुः** – आखें बन्द करके उस आत्मा को देखा – अर्थात् आध्यात्मिक साधक को आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए अपने भीतर झाँकना होगा, अपने भीतर चलना होगा, प्रवेश करना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि साधक बाहर की दुनिया से अपनी आँखें हटा ले, आँखें बन्द कर ले और तब अपने भीतर देखना प्रारम्भ करे।

भीतर देखने पर हमारा परिचय एक अमूर्त मानसिक संसार से होता है। हमारा मानसिक संसार हमारे मन की आँखों के सामने आने लगता है। हम अपने गुण-दोषों से परिचित होने लगते हैं। निरन्तर दीर्घ काल तक इस साधना का अभ्यास करते रहने पर साधकों को विदित होने लगता है कि हमारे भीतर का संसार ही बाहर के संसार के रूप में हमारे सामने प्रगट होता है। हमारा भीतरी संसार ही हमारे बाहरी संसार का

सृजन और विनाश करता है। हमारा भीतरी संसार जितना सुव्यवस्थित सुन्दर और आनन्दमय होता है, उसी अनुपात में हमारा बाहर का संसार भी वैसा ही होता है। अत: हमें सावधानीपूर्वक अपने भीतर के संसार को सजाने और सँवारने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

शाश्वत साक्षी

जैसे ही हम अपने अन्तर्जगत् को देखने तथा सजाने-सँवारने का कार्य प्रारम्भ करते हैं, तो एक बात दिन के प्रकाश के समान हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है कि मेरा मन मुझसे भिन्न है। मैं मन नहीं हूँ, मैं मन को सजाने-सँवारने वाला एक ऐसा तत्त्व हूँ, जो सतत् एकरस और समान है। जो सदैव वर्तमान है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है, किन्तु जो सभी परिवर्तनों का शाश्वत साक्षी है। इस शाश्वत साक्षी के अचल, अटल और स्थिर रहने के कारण ही हमें सभी परिवर्तनों का बोध होता है। इतना ही नहीं, हम अपनी इच्छानुसार अपने अन्तर्जगत् में परिवर्तन और परिवर्धन कर सकते हैं। अन्ततोगत्वा सभी परिवर्तनों से असंग होकर अपने शाश्वत स्वरूप में अखण्ड रूप से सदैव के लिए अवस्थित हो सकते हैं। उस अवस्था में अन्तर और बाहर दोनों संसार इस शाश्वत चैतन्य साक्षी में निमज्जित होकर विलीन हो जाता है, तब केवल द्रष्टा शाश्वत साक्षी ही अखण्ड रूप में विराजमान रहता है। शाश्वत अखण्ड मौन ही इसकी अभिव्यक्ति है। यही अन्तर्यात्रा है का परम गन्तव्य है। जीवन की पूर्णता और सफलता है।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्

ऊपर जो कुछ भी कहा गया वह परिश्रम सापेक्ष एवं साधनलब्ध है। पढ़ने एवं सुनने पर तत्त्व और आख्यान कुछ समय के लिए रुचिकर लग सकते हैं, किन्तु जब तक हमारे व्यक्तिगत जीवन में इसकी साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती तब तक हमारा जीवन पूर्ण नहीं हो सकता, जीवन में शाश्वत शान्ति एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए साधक को श्रद्धापूर्वक लक्ष्य की प्राप्ति होने तक निरन्तर प्रयत्नपूर्वक साधनरत रहना होगा।

आध्यात्मिक यात्रा में, मार्ग में विश्राम का प्रावधान नहीं है। गन्तव्य पर पहुँच कर ही साधक को चिर विश्राम और परम शान्ति की उपलब्धि होती है।

जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो तब तक श्रद्धा और विश्वास के साथ निरन्तर चलना, आगे बढ़ते रहना, यही साधक का कर्तव्य है, धर्म है। **चरैवेति चरैवेति** – चलते रहो, चलते रहो – यही साधक के जीवन का मूल-मन्त्र है, जयघोष है।

चैतन्यवान बनो

एक जनवरी अठारह सौ छियासी (१८८६) को कलकत्ते के काशीपुर उद्यान में भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने भावमग्न होकर भक्तों को आशिर्वाद दिया था – **तुम लोग चैतन्यवान बनो।**

चैतन्यवान बनना अर्थात् अपने अन्त:करण में अवस्थित चैतन्य सत्ता का अनुभव कर लेना, यह जान लेना कि मैं हाड़-मांस की देह नहीं हूँ, मैं तो इस देह में अवस्थित देही हूँ। भगवान कृष्ण ने भी तो अर्जुन से यही कहा था – हे अर्जुन! तू यह नश्वर देह नहीं है, अपितु इस देह में अवस्थित अजर-अमर शाश्वत देही है।

इस चैतन्य सत्ता का अनुभव होते ही व्यक्ति भीतर से आमूल-चूल बदल जाता है। तब साधारण व्यक्ति को विषय-भोगों की छलना से नचाने वाला यह जड़ जगत उसे किसी भी प्रकार आकर्षित और लुब्ध नहीं कर पाता। ऐसे अनुभवसम्पन्न ज्ञानी व्यक्ति के लिए यह जगत् परमात्मा की लीला और क्रीड़ास्थली हो जाता है, जिसमें परमात्मा के साथ रमण करता हुआ वह जीव आनन्द विभोर होकर धन्य हो जाता है।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

जीने की कला (१८)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

विज्ञान का दुरुपयोग

आस्कर वाइल्ड की एक कथा सुनो, "ईसा मसीह एक बार किसी गाँव से नगर की ओर आ रहे थे। सड़क पर चलते समय उन्होंने एक युवक को सड़क की नाली में पड़ा देखा। ईसा ने उससे पूछा, "तुम मदिरा पीकर इस घृणित अवस्था में क्यों पड़े हो?" युवक ने उत्तर दिया, "प्रभो ! मैं कोढ़ी था। आपने करुणा के वशीभूत होकर मेरा कोढ़ ठीक कर दिया। अब मैं और कर ही क्या सकता हूँ?" ईसा ने लम्बी साँस ली। फिर उन्होंने एक अन्य युवक को वेश्या के कोठे की ओर जाते देखा। ईसा ने पूछा, "तुम इस प्रकार अपनी आत्मा को क्यों पतित करते हो?" युवक ने उत्तर दिया, "प्रभो! मैं अन्धा था। आपने करुणाद्र होकर मुझे नेत्र-ज्योति प्रदान की। अब मैं और कर ही क्या सकता हूँ?" नगर में प्रविष्ट होने पर ईसा ने दुख-कष्ट से आर्तनाद करते एक वृद्ध व्यक्ति को देखा। उन्होंने उसके करुण रुदन का कारण पूछा। वृद्ध ने कहा, "मैं तो मर गया था। आपने मुझे पुन: जिला दिया। अब मैं रोने-चिल्लाने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता हूँ?" इन सभी ने ईसा की करुणा का दुरुपयोग किया था।

ईसा अपनी अतिमानवीय शक्तियों द्वारा जो कुछ कर सके थे, विज्ञान आज वह सब कुछ करने में समर्थ है। शल्य-चिकित्सा तथा चमत्कारिक औषधियों की जादुई तकनीक द्वारा आज बीमारियों को दूर भगाकर आयु के प्रभाव को घटा सकता है। जीनों का विश्लेषण करके उनमें परिवर्तन लाकर मृत्यु को टाला या शायद मिटाया भी जा सकता है, परन्तु मनुष्य इस ज्ञान का उपयोग क्या अपने या समाज के कल्याण हेतु कर रहा है? या फिर, वह भी आस्कर वाइल्ड की उपरोक्त कथा के पात्रों की भाँति मन की शक्तियों का विकास करनेवाले मूल्यों का उपयोग जागतिक सुखों की खोज तथा स्वयं को विनाश के कागार तक ले जाने के लिए कर रहा है?

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेषज्ञ कहते हैं – "इस पृथ्वी की करीब आधी जनसंख्या कुपोषण या भुखमरी का शिकार है। यदि दुनिया के सैन्य-व्यय का एक प्रतिशत भी खाद्य के उत्पादन में लगाया जाय, तो इससे बीस करोड़ भूखे बच्चों को भोजन दिया जा सकता है।" पर किसी ने भी बच्चों के आहार हेतु पर्याप्त धन नहीं बचाया है। महा-विनाशक हथियारों के उत्पादन व भण्डारण में ही अकूत धन खर्च किया जा रहा है। यहाँ हमें बर्टेन्ड रसेल की एक उक्ति का स्मरण हो आता है, "हममें अपने मित्रों का हित करने की जगह, शत्रुओं का नाश करने की इच्छा ही अधिक प्रबल है।" यह मानसिकता संसार को कोई लाभ नहीं पहुँचाती। हमारी शक्ति और संसाधन प्राय: अपने सच्चे मित्रों की सहायता की जगह अपने काल्पनिक शत्रुओं के विनाश पर ही अधिक खर्च होते हैं।

केवल मशीनों तथा प्रौद्योगिकी का विकास उपकारी नहीं सिद्ध हो सका है, क्योंकि इसके साथ-ही-साथ मानव-हृदय में करुणा, सहानुभूति, आत्म-संयम, नि:स्वार्थता, सहायता आदि के भावों का कोई विकास नहीं हुआ। इसलिए केवल प्रौद्योगिकी का विकास मानवीय प्रगति के लिए अहितकर ही सिद्ध हुआ है। ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कन्नड़ कवि कोवेम्पू कहते हैं –

है विज्ञान मनुज की दासी,
ज्ञान और धनराशि अपार ।
विषयभोग-तृष्णा की ज्वाला,
पाती खनिज-तेल की धार ।।
ऊँची बढ़ती जाती लपटें,
युद्धस्थल की कैसी आग ।
धनी और निर्धन दोनों को,
डँसे हवस रूपी अनुराग ।।

हिंसा का दानव

वैज्ञानिक तथा बुद्धिजीवी ज्ञान के विविध क्षेत्रों में सत्य की खोज हेतु अपना जीवन अर्पित करते रहे हैं। उन्होंने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को काम में लाने की तकनीकें खोज ली हैं। परन्तु उनका श्रम मनुष्य में निहित बुराई की आग को हवा देने का ही काम करता रहा है। उनके अथक परिश्रम से खोजे गए प्रकृति के रहस्य, गलत हाथों में पड़कर मनुष्य के विनाश के पथ को ही प्रशस्त करने में लगे हैं। अब हम विज्ञान का महा-विनाशकारी चेहरा स्पष्ट रूप से देख पा रहे हैं।

सोमवार, ६ अगस्त, १९४५ का दिन। सुबह के पौने आठ बजे थे। करीब ६० हजार नर-नारी तथा बच्चे देखते-ही-देखते काल के गाल में समा गए और लाख से भी अधिक लोग घायल हुए। एक बड़ा बन्दरगाह नष्ट कर दिया गया। एक बड़ा शहर जलाकर राख कर दिया गया। मिनटों में ही सब कुछ स्वाहा हो गया। जापान में हिरोशिमा नगर पर गिराये गए अमेरिका के पहले अणु बम का ऐसा ही प्रभाव हुआ।

हाल के वर्षों में विज्ञान ने तीव्र प्रगति की है, पर साथ-ही-साथ वह मानवता के संहार की कला में भी उत्तरोत्तर कुशल होता गया है। इस बात की अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में हाल ही में एक प्रामाणिक रिपोर्ट में लिखा है, "विश्व की पाँच महाशक्तियों ने विभिन्न प्रकार के करीब पचास हजार शक्तिशाली परमाणु हथियारों का भण्डारण किया है। ये हिरोशिमा पर गिराये गए बमों की तुलना में दस लाख गुना अधिक विनाशकारी हैं। इन हथियारों का लगभग ९५ से ९७ प्रतिशत भाग दो महाशक्तियों के हाथों में और बाकी चीन, इंग्लैंड और फ्रांस के पास है। दोनों महाशक्तियाँ इन परमाणु हथियारों के विकास पर प्रतिदिन लगभग एक करोड़ डालर और इनके परिवहन, अनुसन्धान तथा भण्डारण पर करीब दस करोड़ डालर खर्च करती रही हैं। और इनके उत्पादन को रोकने की भी कोई निश्चित योजना नहीं है। यद्यपि ऊपरी तौर पर शस्त्र-निरोध समझौते पर हस्ताक्षर हो चुके हैं, परन्तु कोई भी निःशस्त्रीकरण के प्रति गम्भीर नहीं है।"

विनाशक हथियारों की सहायता से मानवता के संहार की कला में हुई प्रगति के बारे में कुछ जानकारी इस प्रकार है, "उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व के हजार वर्षों के दौरान यूरोप में विभिन्न युद्धों में मारे गए लोगों की संख्या २००० करोड़ थी। परन्तु केवल इस एक ही शताब्दी के दौरान युद्धों में करीब ७००० करोड़ लोग मारे गए। यह आँकड़ा द्वितीय विश्वयुद्ध तक युद्धों में मारे गए लोगों का है। उसके बाद भी संसार भर के अनेक युद्धों में एक करोड़ से भी अधिक लोग मारे गए।"

विज्ञान का भयावह चेहरा

विज्ञान मानवता को सुख-सुविधा प्रदान करने के प्रयत्न का हामी है। मगर सुख-सुविधा के प्रलोभन के द्वारा मनुष्य पर उसकी पकड़ निरन्तर मजबूत होती जा रही है। "ब्रिटेन में हर साल सात हजार लोग यातायात से जुड़ी दुर्घटनाओं में मारे जाते हैं और एक लाख लोग घायल हो जाते हैं। अमेरिका में प्रतिवर्ष पैतालिस हजार लोग घातक यातायात सम्बन्धी दुर्घटनाओं की बलि चढ़ जाते हैं और लाखों घायल हो जाते हैं।"

१९८२ ई. में 'लन्दन-टाइम्स' में प्रकाशित एक लेखमाला का सार इस प्रकार था – यह सच है कि विज्ञान ने हमारी सुख-सुविधाओं का स्तर उठा दिया है। हमारी आयु की सीमा बढ़ गई है, पर साथ ही मदिरा की लत बढ़ती जा रही है।

वस्तुतः सभ्यता की प्रगति पर सबको गर्व है। परन्तु दुर्भाग्यवश सुरापान से उन्मत्त अवस्था में हिंस्र पशुओं से भी बदतर आचरण करनेवालों की संख्या भी बढ़ी है। १९६१ ई. में शराब और सिगरेट पर १,५०० करोड़ रुपये खर्च किये गए। अब तक यह संख्या अनेक-गुनी हो गई होगी। शराब पीकर वाहन चलाने से हुई दुर्घटनाओं की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती ही जा रही है। ब्रिटेन में प्रतिवर्ष ४,०० करोड़ लीटर से भी अधिक शराब की खपत है। केवल शराब और सिगरेट पर उगाहे गए कर की धनराशि १,१७० करोड़ रुपये है।

विशेषज्ञों का कहना है, "तकनीकी रूप से सर्वाधिक उन्नत राष्ट्रों में से एक – अमेरिका में हर आधे घण्टे में एक हत्या तथा एक बलात्कार की घटना होती है, हर घण्टे दस डकैतियाँ और चालीस कार-चोरी या तस्करी की घटनाएँ होती हैं। इन घटनाओं की वार्षिक संख्या बीस लाख को पार जाती है। अपराधों को अंजाम देने में अपराधी लोग सर्वाधिक उन्नत तकनीक का प्रयोग करते हैं और ये इसमें इतने सफल रहते हैं कि उन्हें निष्फल करने के लिए पुलिस का सर्वोत्तम प्रयास भी व्यर्थ ही जाता है। चार डकैतियों में से एक का ही कभी सुराग मिल पाता है। सन् १९०० से लगभग आठ लाख लोग हत्यारों की गोली से मारे जा चुके हैं। यह मानव-हृदय में व्याप्त हिंसा की प्रबलता का संकेत देता है। अभी गत एक वर्ष के दौरान ही दस हजार लोगों ने खुद को गोली मारकर आत्महत्या कर ली। यह वहाँ के नर-नारियों के संघर्ष तथा हताशा की गहराई का द्योतक है।

इस संघर्ष और हताशा की गम्भीरता को समझाने के लिए विशेषज्ञ अन्य आँकड़े भी देते हैं – "अमेरिका के लोग प्रति वर्ष २८,००० टन एस्प्रीन या वैसी ही अन्य गोलियाँ निगल जाते हैं। स्नायु के तनाव को दूर करनेवाली सैकड़ों करोड़ रुपये की दवाओं की खपत होती है। असंख्य लोग अनिद्रा-रोग से पीड़ित हैं और उन्हें नित्य नींद की गोलियाँ खानी पड़ती है। कॉलेजों में पढ़नेवाले युवकों तथा युवतियों में बड़ी तेजी से ट्रैंक्विलाइजरों (प्रशान्तकों) और मन को ठीक रखनेवाली औषधियों की नई लत बढ़ती जा रही है।

'रीडर्स डाइजेस्ट' के नवम्बर, १९७० अंक में आर्टलिंक लेटर का एक हृदय-विदारक लेख छपा था। एल. एस. डी. (एक मादक द्रव्य) के नशे के प्रभाव से अपनी बीस वर्षीया पुत्री के एक भवन की ऊपरी मंजिल से कूदकर जान देने का वर्णन करते हुए लेखक (आर्टलिंक लेटर) ने अमेरिकी माता-पिताओं को चेतावनी दी है, "हमारे परिवार पर आई त्रासदी की छाया प्रत्येक घर को अन्धकारमय करती जा रही है। शिक्षा का स्तर, धन-सम्पदा और सामाजिक प्रतिष्ठा – कुछ भी युवकों को मादक द्रव्यों का शिकार बनने से नही बचा पाते। आपका बच्चा, अमेरिका के चाहे किसी भी प्राथमिक शाला या हाईस्कूल या विश्वविद्यालय में हो, वह ठीक इसी क्षण मादक द्रव्यों के सम्पर्क में आ रहा है। यदि आप सोचते हैं कि ऐसा नहीं है, तो आप घोरतम अन्धविश्वासी हैं।"

कामुकता, स्वेच्छाचार और भोगलिप्सा को ईंधन की आपूर्ति करते हुए वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी ने मानवता पर कैसा विनाश-

कारी प्रभाव का विस्तार कर लिया है। जहाँ वियतनाम-युद्ध में पैंतालिस हजार (४५,०००) सैनिक मारे गए थे, वहीं एक लाख चालीस हजार (१,४०,०००) लोग मादक द्रव्यों के प्रभाव से मर गए। कहते हैं कि विश्व भर के तेरह विशाल संगठन मादक द्रव्यों के अवैध व्यापार में लगे हैं और उनमें से एक का वार्षिक कारोबार दो हजार करोड़ रुपयों का है।

विनष्ट नैतिक मर्यादाएँ

विशेषज्ञ अनुसन्धानकर्ता और विदेशों में सामाजिक स्वास्थ्य के संरक्षकगण नैतिक मूल्यों के ह्रास के दुष्प्रभावों तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नाम पर बढ़ते स्वेच्छाचार के प्रति लोगों को आगाह करते हैं। वे तथ्यों और आँकड़ों के आधार पर बताते हैं कि पुरुष और महिलाएँ अधिकाधिक स्वार्थी बनते जा रहे हैं। स्वतंत्रता और नैसर्गिकता के आधार पर अधिकाधिक कामोपभोग का पक्ष लिया जाता है। गर्भनिरोधक उपायों का प्रयोग या दुरुपयोग बढ़ता ही जा रहा है। गर्भपातों की संख्या बढ़ती जा रही है और तलाकों की संख्या में वृद्धि क्रमश: परिवारों की संरचना को निर्मूल करती जा रही है। यौन रोगों की घटनाएँ भी बढ़ती जा रही हैं।

विज्ञान के वरदानों का गुणगान करनेवाले और नैतिक मूल्यों के महत्त्व की उपेक्षा करनेवाले लोगों को अपनी आँखें खोलकर इन चेतावनियों पर ध्यान देना चाहिए। शिक्षकों, शिक्षा-शास्त्रियों और हर क्षेत्र में पश्चिम का अनुकरण करनेवाले शिक्षित लोगों को शान्त भाव से इस नैतिक पतन के कारणों पर चिन्तन करना चाहिए। पाश्चात्य जगत् में विज्ञान की प्रगति के साथ ही धार्मिक उत्साह कमजोर पड़ने लगा है। स्वतंत्रता ह्रासोन्मुख होकर अनैतिक जीवन-यापन का लाइसेंस बन गई है। मनो-विश्लेषण के जनक सिग्मण्ड फ्रॉयड ने नैतिक संहिताओं के माध्यम से मन पर किसी प्रकार के नियंत्रण स्थापित करने की जरूरत से इन्कार किया है। बाद में इसी से बच्चे के जीवन में पथ-भ्रष्टता की शुरुआत हुई।

फ्रॉयड ने कहा था, "कोई बालक असहाय होने के कारण माता-पिता के संरक्षण और आश्रय में पलता है। पलते-बढ़ते समय उसे काल्पनिक शरण और सुरक्षा-शक्तियों की जरूरत होती है। ईश्वर और धर्म ऐसे ही काल्पनिक आलम्बन हैं। व्यक्ति परिपक्व तथा तर्कबुद्धि-युक्त हो जाने पर ईश्वर में अपना विश्वास खोकर फिर धार्मिक प्रतिबन्धों की कोई परवाह नहीं करता।" फ्रॉयड का मत है कि मानव जीवन में कामेच्छा ही एकमात्र प्रेरणा-शक्ति है। मनुष्य को संयम के किन्हीं नियमों का पालन करके बीमार पड़ जाने की जरूरत नहीं है। साक्ष्यों के आधार पर सोरोकिन बतलाते हैं कि फ्रॉयड के भ्रामक सिद्धान्त ने अनियंत्रित काम-भावना को प्रश्रय देकर पाश्चात्य जगत् में व्यक्ति और समाज दोनों को ही क्षति पहुँचाकर नैतिक आधार को किस प्रकार विनष्ट कर दिया है। वे बताते हैं कि फ्रायड के यौन-स्वच्छन्दता के अतिरेक को स्वीकार करके समाज स्वयं असाध्य रोग से ग्रस्त हो गया है। उनके अपने ही शब्दों में, "मानसिक स्वास्थ्य को कायम रखने के लिए समस्त सहज संवेगों की पूर्ण सन्तुष्टि की सलाह देनेवाली मनो-विश्लेषण की पद्धति अनिवार्यत: अवैज्ञानिक है तथा साथ ही नैतिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार से खतरनाक है। इसका व्यावहारिक अनुप्रयोग मानसिक विक्षोभों में ह्रास नहीं, अपितु वृद्धि ही करता है।"

सोरोकिन बताते हैं कि जैसे अतीत के अमेरिकी शिक्षा-शास्त्री कहा करते थे कि बच्चों को शारीरिक दण्ड से बचाया जाना चाहिए, वैसे ही आज उन्हें एक आन्दोलन चलाकर नारा लगाना चाहिए, "बच्चों को फ्रॉयड के सिद्धान्त से बचाइए।" परन्तु इस जाल से अपने को मुक्त करना आसान नहीं है। जब पिछले दो सौ वर्षों से 'काम-भाव' को इतना अनावश्यक महत्त्व दिया जा चुका है, तो सहसा इसे दरकिनार कैसे किया जा सकता है? समाज-विज्ञानी सोरोकिन कहते हैं, "विगत दो शताब्दियों में, मुख्यत: विगत कुछ दशकों के दौरान हमारी संस्कृति की हर शाखा पर प्रबल काम-वासना का आक्रमण हुआ है। हमारी सभ्यता कामुकता में इतनी डूब गई है कि वह जीवन के हर कोने से रिस रही है।"

सोरोकिन ने इस बात के पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं कि प्रबल काम-भावना ने किस प्रकार साहित्य, कला, संगीत, चलचित्र, टेलीविजन, प्रेस, पत्रिकाओं और विज्ञापनों के हर क्षेत्र में अकथनीय क्षति पहुँचाई है। १९३० के एक अध्ययन के अनुसार इस वर्ष प्रदर्शित १०० फिल्मों में से ४५ ने यौन और २८ ने हत्या तथा यौन की कथावस्तु प्रस्तुत की थी। तब से ऐसी फिल्मों का अनुपात भयावह रूप से बढ़ता गया है। एक सर्वेक्षण के अनुसार *'द स्टेट्समैन'* पत्र बताता है कि हाल ही में यह प्रवृत्ति किस हद तक जा चुकी है –

"पश्चिमी जर्मनी में अनेक वर्षों तक सम्भोग-विषयक वीडियो फिल्म के अनेक शो विशाल भीड़ को आकर्षित करते रहे हैं। परन्तु हाल ही में ऐसे फिल्मों से वह सन्तुष्टि नहीं मिलती। अब वहाँ हिंसक अपराध और बलात्कार का चित्रण करनेवाली अशिष्ट, उन्मत्तकारी और अश्लील फिल्मों को दिखाये जाने की माँग बढ़ती जा रही है।"

अभी तीस साल पहले ही डॉ. सोरोकिन ने अपने शोध का विवरण दिया था, जो टेलीविजन के दुरुपयोग को प्रमाणित करता था। उन्होंने अपने एक अध्ययन के निष्कर्षों को प्रकाशित कराया, जिसमें इस बात की पुष्टि की गई थी कि टेलीविजन जान-बूझकर जनमानस को दूषित किया करते हैं – "टेलीविजन द्वारा सुरापान, अपराध, डकैती, कामुक रंगरेलियों वाले रात्रिकालीन

क्लबों के कामोत्तेजक परिवेश का प्रचार-प्रसार किया जाता है। टेलीविजन प्राय: सिनेमा की अपेक्षा अधिक अशिष्ट फिल्मों का प्रदर्शन करते हैं। एक बार इस दूषित मल के अभ्यस्त हो जाने के बाद अधिकांश लोग शारीरिक, मानसिक और नैतिक गन्दगी साफ कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं। दो-एक लोग ही इस माहौल से स्वयं को उबार पाने में समर्थ हो सकते हैं। परन्तु बाकी लाखों लोग तो नैतिक मानदण्ड को सुरक्षित रखने की स्वाभाविक भावना भी खो बैठते हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है।''

विज्ञान इन्द्रिय-सुख को उत्तेजित तथा दैहिक-सुख को अतिरंजित करके मनुष्य को स्वार्थी बनाने की आधुनिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार विज्ञान मनुष्य को अनुशासन-हीनता और अनैतिकता की ओर उन्मुख करके अन्तत: उसका नैतिक विनाश ही कर देता है।

❖ (क्रमश:) ❖

लोकनायक श्रीराम

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

प्रत्येक संस्कृति के अपने कुछ विशिष्ट आदर्श होते हैं, जिनसे वह अपना जीवन-रस खींचती है, साथ ही वे आदर्श उसकी जीवन-दृष्टि और जीवन का भी प्रतीक होते हैं। ऐसा ही एक आदर्श है श्रीरामचन्द्र का। युगों से राम का व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है। उनकी जीवन-कथा ने इस देश के चिन्तन, विश्वासों और मूल्यों पर गहरा प्रभाव छोड़ा है।

यह सच है कि राम का ईश्वरत्व, उनके मानवीय रूप से कुछ इस प्रकार गुँथा है कि उसे आँखों से ओझल करना कठिन है, किन्तु उनका यह मानवीय आचरण ही जन जन के मन में बसा है। इतना सुनिश्चित है कि चाहे वे सृष्टि के कण कण में रमण करनेवाले परब्रह्म सच्चिदानन्द श्रीराम हों, चाहे वाल्मीकि के लोकनायक राज-राजेश्वर राम हों, चाहे तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम दाशरथी राम हों, चाहे मानवीय संवेदनाओं के धनी भवभूति के **अन्तर्गूढ-घनव्यथः** रामभद्र हों – हैं वे इस देश के मानस के एक अभिन्न अंग।

मन में सहज ही एक जिज्ञासा होती है कि कौन-सी विशेषता है इस व्यक्ति में, जो इन 'नर' और 'नारायण' दोनों रूपों में पूज्य है। राम की ऐतिहासिकता और उनकी ब्रह्मरूपता यहाँ चिन्तन का विषय नहीं है, यूँ भी उनका ईश्वरत्व उनकी लोकप्रियता में कारण नहीं है। चिन्तन का विषय है उनके व्यक्तित्व का वह मानवीय पक्ष, जिसने उन्हें जन जन का प्रेरणा-स्रोत और प्रिय बना दिया है। राम का अर्थ है वह व्यक्ति जो जीवन के संघर्ष में पर्वतों का ठहराव और सागर की गम्भीरता लेकर खड़ा होता है, सुख-दु:ख जिसकी मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं लाते, विवेक और साहस जिसके दो चरण हैं, क्षमता और शौर्य जिसकी दो भुजाएँ हैं, जिसकी एक सौम्य-सी मुस्कान ही जीवन के सभी प्रश्नों का उत्तर है।

राम अपने स्वरूप में बहुत सहज हैं, उनके व्यक्तित्व में चमत्कार का चाकचिक्य नहीं है। एक रोचक-सी बात है कि श्रीकृष्ण का जीवन भी आदि से अन्त तक संघर्ष की कथा है, किन्तु उनकी संघर्ष-शैली श्रीराम के संघर्ष से कुछ भिन्न हैं। जन्म के प्रथम क्षण से भूलोक छोड़ने तक श्रीकृष्ण अद्‌भुत और असामान्य लीलाएँ करते रहे हैं, दिव्यता का प्रकाश उनमें क्षण क्षण होता रहा है। एक बहुकोणीय व्यक्तित्व है उनका। जिस ओर से जीवन की किरण पड़ती है, उस ओर से वे चमक उठते हैं। राम के जीवन में चमत्कार नहीं के बराबर है, और इसलिए कृष्ण को लेकर सामान्य व्यक्ति के मन में जैसी कौतुकमयी श्रद्धा और अवाक् प्रशंसा जागती है, प्राय: राम को लेकर नहीं जागती।

किन्तु राम, मन को एक दूसरी ही भावभूमि पर तरंगायित करते हैं। उनके मृदु-गाम्भीर्य और मौन आश्वासन से मन टूटते टूटते जैसे आस्थावान हो उठता है। एक निश्चिन्तता की-सी अनुभूति होती है, वैसी ही निश्चिन्तता जैसी उस अबोध-असहाय शिशु में जागती है, जब पिता कहीं से आकर उसकी अँगुली पकड़ लेता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राम का आचरण अनुकरणीय हो सकता है, क्योंकि उनके जीवन में जो घटा, वह अपने आप में बहुत असाधारण नहीं था। असाधारण थी उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया। सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी कई बार यही सब घटता है – परिस्थितियों का नाटकीय परिवर्तन, सुख-दु:ख की आँख-मिचौनी, कैकेयी जैसे किसी स्नेहिल व्यक्ति का अभिशाप, प्रिय का वियोग तथा अन्याय और अत्याचार के प्रति एक साधनहीन किन्तु अनिवार्य संघर्ष। इन परिस्थितियों में अपनी प्रतिक्रिया सन्तुलित और सही रख पाना ही जीवन की शाश्वत समस्या है, इस समस्या का समाधान होता है राम के आचरण से। यही कारण है कि सामान्य व्यक्ति उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर पाता है। जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में वे व्यवहार का एक आदर्श रखते हैं। द्विविधा के क्षणों में वह उनसे प्रेरणा लेता है, संकट में उनकी करुणा और शक्तिशालिता उसे आवश्वस्त करती है।

राम का व्यक्तित्व दिव्यता और मानवीयता का अद्भुत समीकरण है। यों तो उनमें अनेक विशेषताएँ हैं, उनकी व्याख्या भी भाँति भाँति से की जा सकती है, किन्तु तीन ऐसी सर्वातिशायी विशेषताएँ हैं, जो उनके व्यक्तित्व की समग्रता का बोध करा देती हैं। ये तीन वैशिष्ट्य हैं – उनका शील, उनकी शक्ति और उनका सौन्दर्य। राम के सन्दर्भ में यह शील ही उनके व्यक्तित्व का चमत्कार है। उनका शौर्य और सौन्दर्य उनके शील की ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

यह 'शील' शब्द अपने में अनेक अर्थ सँजोए है। शील का अर्थ है – व्यक्ति का सहज स्वभाव, उसकी नैसर्गिक वृत्ति, उसकी निजता और उसका आचरण। राम का शील उनके जीवन में कई रूपों में अभिव्यक्त होता है – कहीं धीरता के रूप में, कहीं त्याग के रूप में, कहीं करुणा के रूप में, तो कहीं शरणागत-वत्सलता के रूप में। राम की धीरता असाधारण है, इसलिए वे साहित्य में धीरोदात्त नायक के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं।

जीवन की विषमताएँ और अन्तर्विरोध उनके चित्त को विचलित नहीं कर पाते। जितनी तटस्थता से वे राज्याभिषेक स्वीकार करते हैं, उतनी ही तटस्थता से वनवास। अकारण मिले वनवास का समाचार उनकी मुखकान्ति को क्षण भर के लिए भी म्लान नहीं करता। गोस्वामीजी ने अयोध्या-काण्ड के प्रारम्भ में उनकी इस अम्लान मुखश्री का ही स्तवन किया है –

प्रसन्नता या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्लौ वनवासदु:खतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदाऽस्तु सा मंजुलमंगलप्रदा ।।

सहज अनुमेय है कि राम की इस अनासक्ति ने कोसल देश को कितने बड़े गृहयुद्ध की सम्भावना से बचाया होगा। राम के इस शील के समक्ष कैकेयी जीतकर भी हार गई थी।

राम का यह शील उनके सभी सम्बन्धों में अभिव्यक्त होता है। वे एक आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श बन्धु, आदर्श स्वामी सभी कुछ हैं। अपने चरित्र के कारण ही वे भारतीय जनमानस के समक्ष परिवार और समाज के विभिन्न सन्दर्भों में सौमनस्य और सहिष्णुता के प्रतीक बन गए हैं। राम का यह शील जहाँ एक ओर प्रेम और करुणा के रूप में व्यक्त होता है, वहीं दूसरी ओर उनके बड़े-से-बड़े शत्रु को भी पराभूत कर देता है। राम के मृदु स्वभाव से ही परशुराम पराजित हुए। राम की गम्भीरता और विनम्रता के आगे उनका क्रोध हास्यास्पद लगा। राम के शील ने उनके लिए अपरिमित सद्भावना जीती। सुग्रीव, हनुमान और विभीषण उनके लोकोत्तर चरित्र से आकृष्ट होकर ही उनकी शरण में आए।

यह ध्यान देने की बात है कि राम की विनम्रता को कभी किसी ने शक्तिहीनता समझने का दु:साहस नहीं किया। सब को सहज ज्ञात हो जाता था कि उनकी सुशीलता उनके आत्मविश्वास और उनके आत्मबल को ही व्यक्त करती है। राम के शील और शौर्य में कारण-कार्य सम्बन्ध है, राम की शक्ति उत्पन्न ही होती है उनके सद्गुणों से, इसीलिए उनकी शक्ति सदैव अन्याय और अशुभ के विनाश के लिए प्रवृत्त होती है।

राम का वनवास उनके लिए अपरिमित कठिनाइयों का काल था, परन्तु वे अपने पराक्रम के बल पर दण्डकारण्य की आसुरी शक्तियों से जूझते रहे। खर-दूषण के वध के समय तो लक्ष्मण भी उनके साथ नहीं थे। राम का शौर्य कभी छिछले शक्ति-प्रदर्शन का विषय नहीं बना, न ही उन्होंने कभी युद्ध के लिए युद्ध किया। वे सदैव शक्ति और क्षमा के सिद्धान्त के पोषक रहे। शरणागत की रक्षा का प्रण जहाँ एक ओर उनकी क्षमावृत्ति को बतलाता है, वही दूसरी ओर किसी भी स्थिति से निपटने के उनको साहस को भी सूचित करता है। राम की क्षमा का मूल्य है, क्योंकि वह शक्तिशाली की क्षमा है। वे अपने बड़े-से-बड़े शत्रु को भी क्षमा रखने का साहस रखते हैं। वे तो रावण को भी क्षमा कर देते, यदि वह शरण में आता। **अपने शत्रु पर भी कृपा करना बहुत बड़े आत्मविश्वास और पराक्रम का द्योतक है।** जिस व्यक्ति को अपनी शक्ति पर भरोसा रहता है, वही दूसरों पर भी विश्वास कर सकता है, और जो स्वयं आत्मविश्वास से रहित होता है, वह सदैव दूसरों के विश्वासघात से डरता रहता है। राम का चरित्र नैतिकता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

राम का सौन्दर्य उनके व्यक्तित्व की वह तीसरी विशेषता है, जो हमें बाँधती है। राम का सौन्दर्य उनके सद्गुणों और उनके शौर्य का समीकरण है। यह उनके चरित्र का रूपायन है, कवि या भक्त के नेत्रों में। महर्षि वाल्मीकि से लेकर महाकवि तुलसीदास तक, अनेक कवियों और भक्तों ने उनकी

'त्रिभुवन-मोहिनी' छवि का वर्णन किया है। वाल्मीकि ने तो उन्हें प्रत्यक्ष रूप में देखा था, वे भी उन्हें 'कन्दर्प-कोटिक-लावण्य-युक्त' बतलाते हैं। वस्तुत: 'सत्यम्' के साथ 'शिवम्' और 'सुन्दरम्' की धारणा अनिवार्य रूप से जुड़ी है। हम राम को 'रमणीय' ही सोच पाते हैं। जहाँ एक ओर उनका कामदेव से भी सुन्दर मुख, करुणा से भरे नेत्र और ओठों पर खेलनेवाली सौम्य मुस्कान उनके शील की परिचायक हैं, वही उनके 'वृषभ-स्कन्ध', उनकी सिंह की-सी चाल और प्रत्यंचा सँवारती अँगुलियाँ उनके शौर्य को व्यक्त करती है। राम का रूप मन में श्रद्धा जगाता है, शृंगार नहीं।

राम का व्यक्तित्व, जहाँ अपनी असाधारणता से एक ओर व्यक्ति के मन में आस्था उत्पन्न करता है, वहीं दूसरी ओर अपनी मानवीय सहजता से उसकी आत्मीयता भी अर्जित करता है। शबरी के जूठे बेर खाते हुए, सीता-हरण होने पर व्याकुल हो लता-वृक्षादि से उनका पता पूछते हुए, अपने नयन जल से जटायु का तर्पण करते हुए और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर उनका शरीर गोद में रखकर कातर भाव से क्रन्दन करते हुए राम बहुत मानवीय हो उठते हैं। यहीं सामान्य व्यक्ति की उनसे आत्मीयता होती है, वे उसे अपने जैसे लगते हैं, इसीलिए उसके आदर्श भी बन पाते हैं। उसे लगता है कि राम मानव होकर मानवीयता का अतिक्रमण कर सकते हैं, तो शायद वह भी कर सकता है।

राम के कुछ आलोचक जब राम की मानसिकता को अपनी मानसिकता से तोलते हैं, तो राम के द्वारा परिस्थितियों की सहज स्वीकृति उन्हें उनके चरित्र की कमी लगती है। उन्हें लगता है कि राम ने पर्याप्त 'जाँबाजी' नहीं दिखलाई, किन्तु 'स्व' के प्रश्न पर राम ने कभी भी, कहीं भी, 'जाँबाजी' नहीं दिखाई है। वस्तुत: 'स्व' का अंश उनके व्यक्तित्व में कम है, और यह ऐसी असम्भव-सी बात भी नहीं है, क्योंकि संसार में अनेक ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व में 'स्व' का अंश बहुत कम रहा है। राम ने, लगता है, अपने विषय में कभी कुछ नहीं सोचा। सम्भवत: सोचा भी होगा, तो सीता के विरह में ही सोचा होगा, किन्तु उनकी यह नितान्त व्यक्तिगत व्यथा भी एक महत् उद्देश्य से जुड़कर अन्तत: उनकी निजी नहीं रह गई। हाँ, बनवास के प्रसंग में उनके निजी हित को बाधा अवश्य पहुँची, किन्तु यह भी हमारी संकीर्ण दृष्टि से ही कहा जा सकता है। वस्तुत: राम का हित समाज के हित से भिन्न कभी रहा ही नहीं।

राम की सम्पूर्ण जीवनचर्या का पर्यवसान लोक-मांगल्य में ही होता है। ऐसा नहीं है कि अपने विराट् लक्ष्यों की पूर्ति में राम को कभी कष्ट नहीं हुआ होगा, ऐसा भी नहीं है कि राम के साथ कोई अन्याय नहीं हुआ, किन्तु उन्होंने जीवन से मिला हलाहल कभी जीवन पर थूका नहीं, अपनी आत्मा के संस्पर्श से उस हलाहल को अमृत में परिवर्तित कर उसे विश्व को लौटा दिया। राम वस्तुत: समष्टि के प्रति व्यष्टि के समर्पण और प्रतिबद्धता के प्रतीक हैं। राम के जीवन में अनेक आन्तरिक क्रान्तियाँ घटित हुई हैं, उनके सम्पर्क में जो आए, उनके अन्तर्मन में भी अनेक क्रान्तियाँ घटित हुई। किन्तु सामाजिक स्तर पर वे मर्यादा और व्यवस्था के पोषक हैं, इसमें सन्देह नहीं। मर्यादा की स्थापना और व्यवस्था के संरक्षण में व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्ति को जो कष्ट उठाने होते हैं, उन्होने भी उठाये।

राम को चाहे ईश्वर माना जाए या एक महान् इतिहास-पुरुष, पर इसमें कोई सन्देह नही कि इस व्यक्ति ने भारत का मानस निर्मित किया और हम सब उनकी मानस-सन्तान हैं।

❑❑❑

तू सभी से प्यार कर

डॉ. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

अरे बटोही उठ सँभल चल,
बैठ मत मन मार कर।
कर सके यदि, तो यहाँ पर,
तू सभी से प्यार कर ॥
जिन्दगी दो-चार दिन की,
व्यर्थ में जाने न दे,
ज्योति कर्मों की जला ले,
तिमिर को आने न दे।
दीप के उज्ज्वल गुणों का,
तू सदा सत्कार कर ॥
कर सके यदि, तो यहाँ पर तू ....।
फूल खिलकर ही सभी का,
प्यार पाते हैं सदा,
दूसरों के ही लिए
सौरभ लुटाते हैं सदा।
ले सुमन से सीख सुन्दर,
तू सुखद शृंगार कर
कर सके यदि, तो यहाँ पर तू ....।
पंक से पंकज उठा,
तो रूप मोहक पा गया,
और खिलकर वह मनुज क्या
देव को भी भा गया।
तू कमल के सदृश उठ,
अपना स्वयं उद्धार कर
कर सके यदि, तो यहाँ पर तू ....।

हितोपदेश की कथाएँ (८)

('सुहृद्-भेद' अर्थात् 'मित्रों मे फूट' नामक अध्याय से पिछले अंकों में आपने पढ़ा – दक्षिण देश का वर्धमान नाम का वणिक् बैलों को गाड़ी में जोतकर काश्मीर की ओर जाने के लिए निकला, संजीवक बैल का पॉव टूट जाने से उसने उसे बीच रास्ते में ही जंगल के पास छोड़ दिया। जंगल में पड़ा हुआ घायल संजीवक धीरे धीरे स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हो उठा। उस जंगल का राजा पिंगलक नामक सिह एक दिन यमुना तट पर प्यास बुझाने गया और वहाँ बैल संजीवक की दहाड़ सुनकर भय के कारण उल्टे पॉव लौट आया। उसके सियार-मंत्री के पुत्रों – करटक और दमनक ने उसे इस प्रकार चुपचाप चिन्तामग्र बैठे हुए देखा। दोनों भाइयों ने मिलकर विचार किया और दमनक अपने जिज्ञासा के निवारणार्थ राजा पिगलक के पास जा पहुँचा। बाद में उसने संजीवक बैल को लाकर राजा का भय दूर किया तथा उसके साथ उसकी मित्रता करा दी। – सं.)

कुछ दिनों बाद वनराज पिंगलक का भाई स्तब्धकर्ण नामक सिंह उसके घर आया। उसका स्वागत-सत्कार करने के बाद वह शिकार की खोज में निकलने लगा, तभी बैल संजीवक बोल उठा – "स्वामी ! आज शिकार करके जो मांस रखा गया था, वह कहाँ गया?" राजा ने कहा – "करटक और दमनक जानते होंगे।" संजीवक बोला – "पता तो लगाइए कि वह है या नहीं।" सिंह ने कुछ सोचकर कहा – "वह नहीं है।" संजीवक बोला – "तो क्या उतना मांस वे दोनों खा गए।" राजा ने कहा – "कुछ खाया, कुछ बाँटा और कुछ फेंक दिया। यही तो रोज का चलन है।" संजीवक बोला – "तो क्या यह सब आपको बताए बिना ही होता है?" राजा ने कहा – "हाँ, मेरे परोक्ष में ही यह सब होता है।"

संजीवक बोला – "परन्तु यह तो उचित नहीं है। कहा भी है – 'स्वामी को बिना बताये सेवक कोई भी काम न करे। हाँ आपत्ति के समय जो उचित समझे, उसे बिना पूछे कर सकता है।' और – 'मन्त्री को कमण्डल की तरह थोड़ा खर्च करनेवाला और विशेष संग्रही होना चाहिए। "क्षण भर समय का भला क्या महत्त्व है" – ऐसा सोचनेवाला मूर्ख और "एक कौड़ी का भला क्या मूल्य है" – ऐसा सोचनेवाला दरिद्र होता है।' 'जो कौड़ी को भी हमेशा बढ़ाने की चेष्टा करता रहे, वही हितकर मन्त्री है। क्योंकि खजाना रखनेवाले राजा का प्राण प्राण नहीं, बल्कि उसका खजाना ही उसका प्राण है।' फिर 'धन के सिवाय और प्रकार के लोकाचार से मनुष्य स्वामी नहीं बन सकता, क्योंकि धनहीन व्यक्ति को तो उसकी स्त्री तक त्याग देती है, तब औरों का तो कहना ही क्या !'

"राजा के प्रधान दोष हैं – 'अधिक खर्च करना, जाँच-पड़ताल न करना, अधर्म से धन कमाना और दूर रहनेवाले के पास अपना मूलधन छोड़ देना – ये कोष के संकट कहे गए हैं।' क्योंकि 'जो मन्त्री तत्काल होनेवाली आमदनी का ख्याल किये बिना यथेच्छा खर्च करता है, तो वह चाहे कुबेर ही क्यों न हो, उसकी सम्पत्ति धीरे धीरे नष्ट हो जाती है।' "

स्तब्धकर्ण बोला – "सुनो भाई ! करटक और दमनक, दोनों पुराने सेवक हैं और इन्हें सन्धि-विग्रह करने का अधिकार दिया हुआ है। अत: इनको खजाने के काम पर रखना ठीक नहीं। नियुक्त प्रस्ताव के विषय में मैंने जो सुना है, कहता हूँ – 'ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने भाई-बन्धुओं की खजाने के अधिकार पर नियुक्ति ठीक नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण कठिनाई पड़ने पर तैयार धन भी नहीं देता। और यदि क्षत्रिय को खजाने का अधिकार दिया जाता है, तो वह बात बात में तलवार दिखाता है और भाई-बन्धुओं को यदि उस पद का अधिकार दिया जाय, तो मौका पाकर वह आक्रमण कर देता है और सर्वस्व हड़प जाता है।' फिर 'पुराना नौकर यदि कोई अपराध कर बैठता है, तो भी वह निर्भय भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी करने लगता है।'

"और 'यदि स्वामी पर उपकार करनेवाला कोई खजाने के पद पर बैठाया जाता है, तो वह अपने अपराधों को मानता ही नहीं। वह तो किये हुए उपकार की ध्वजा उड़ाकर सब कुछ डकार जाता है।' फिर 'साथ साथ खेला हुआ व्यक्ति जब मंत्री बनकर खजाने के अधिकार पर नियुक्त होता है, तो वह स्वयं को ही राजा समझता है और पूर्व परिचय के कारण पद पद पर राजा का अपमान करता है।'

"जो मन का दुष्ट और ऊपर से सहनशील है, वह हर तरह का अनर्थ कर सकता है। इस विषय में दुर्योधन के मामा शकुनि और राजा नन्द के मन्त्री शकटार – दोनों दृष्टान्त हैं। इन्होंने आपस में लड़ाकर अपने राजाओं का सर्वस्व नष्ट कर डाला था।' और 'समृद्धशाली मंत्री कभी भी वश मे नहीं हो सकता – वह तो अपने को ही सब कुछ समझ बैठता है। इसी से सिद्ध महापुरुषों का कहना है कि धन चित्त मे विकार उत्पन्न किये बिना नही रहता।'

"मंत्री के विशेष दोष हैं – आए हुए धन को हड़प जाना, खजाने के धन को सूद पर चलाना, किसी बात के लिए राजा पर दबाव डालना, उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखना और भोग में लिप्त हो जाना।' और 'राजा का कर्तव्य है कि जो धन काम में लगा है, उससे लाभ उठाने का उपाय करे। अपने सब विभागों की जाँच-पड़ताल किया करे। जो देने का वादा करे, उसे दे दे और काम में हमेशा उलट-फेर करता रहे, अर्थात् किसी को भी ज्यादा दिन एक काम पर न टिकने दे।'

"और 'राजकार्य में लगे हुए बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो जरा-सा भी दबाये जाने पर भेद की बात कह दिया करते हैं, जैसे कि पका फोड़ा थोड़ा भी दबकर फूट जाता है।' फिर

'राजा को चाहिए कि अपने कर्मचारियों से सर्वदा पूछताछ करता रहे, क्योंकि गीले कपड़े को केवल एक बार निचोड़ देने से ही सारा पानी नहीं निकलता।' इन सारी बातों को समझकर जैसा मौका पड़े वैसा काम करे।''

सिंह बोला – ''आपका कहना तो ठीक है, परन्तु ये दोनों मेरा कहना ही नहीं मानते।'' स्तब्धकर्ण बोला – ''यह सब तो सर्वथा अनुचित है। क्योंकि – 'राजा को चाहिए कि आज्ञाभंग करनेवाले अपने बेटे को भी वह क्षमा न करे। जो ऐसा नहीं करता, उस राजा और चित्र के राजा में अन्तर ही क्या है?

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्त-सचिवस्य नराधिपस्य।।

– 'आलसी व्यक्ति की कीर्ति नष्ट हो जाती है, अविश्वासी व्यक्ति की मित्रता लुप्त हो जाती है, असंयमित इन्द्रियोंवाले व्यक्ति का कुल नष्ट हो जाता है, लालच में फँसे व्यक्ति का धर्म नष्ट हो जाता है, व्यसन में फँसे हुए मनुष्य का विद्याफल नष्ट हो जाता है, कंजूस मनुष्य का सुख लुप्त हो जाता है और प्रमादी मंत्रीवाले राजा का राज्य नष्ट हो जाता है।'

''और भी 'राजा को चाहिए कि चोरों से, अपने कर्मचारियों से, शत्रुओं से, अपने प्रियजनों से और अपने लोभ से प्रजा की वैसे ही रक्षा करे जैसे पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है।'

''हे भाई! तुम सब तरह से मेरे कहने के अनुसार चलो। हमने भी संसार में व्यवहार तो किया ही है। इस घास खाने वाले संजीवक को तुम खजाने पर तैनात करो।''

स्तब्धकर्ण के कथनानुसार जब से पिंगलक ने संजीवक को खजांची बना दिया, तब से बन्धुजनों से वियुक्त होने पर भी उन (सिंह तथा बैल) दोनों का समय बड़े प्रेम से कटने लगा। इसके बाद सेवकों को भोजन देने में ढिलाई होते देख दमनक तथा करटक आपस में विचार करने लगे। दमनक ने करटक से कहा – ''मित्र! क्या किया जाय? यह तो अपना ही किया हुआ दोष है। स्वयं किये हुए दोष पर पछताना अनुचित है।''

दमनक बोला – सो यह अपना किया अपराध है। इसलिए इसके निमित्त विलाप करना ठीक नहीं है। क्षण भर सोचकर मित्र! जिस तरह मैंने इन दोनों में मित्रता कराई थी। उसी तरह फूट भी करा दूँगा। क्योंकि – 'नीतिकार्य में कुशल लोग झूठ को भी उसी प्रकार बड़ी खूबी के साथ साबित कर देते हैं, जैसे कि कुशल चित्रकार समभूमि को ऊँची-नीची कर दिखाता है।'

और भी – संकट-काल उपस्थित हो जाने पर भी जिसकी बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती, वह कठिनाई को पार कर जाता है।

इस पर करटक ने कहा – ''यह तो ठीक है, पर इन दोनों में परस्पर बड़ा स्वाभाविक प्रेम हो गया है। भला किस प्रकार इनमें फूट डाल सकोगे?''

दमनक ने कहा – ''उपाय करो। कहा भी है –

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः।।

– जो काम उपाय से हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं होता। कौए की पत्नी ने स्वर्णसूत्र से काले साँप को मार डाला था।''

करटक ने पूछा – ''यह कैसे?'' दमनक कहने लगा –

कथा १२

किसी वृक्ष पर एक कौआ और उसकी पत्नी दोनों रहते थे। उसी वृक्ष की कोटर में रहनेवाले एक काले साँप ने उसके बच्चे खा लिए। इसके बाद काकपत्नी जब फिर गर्भवती हुई, तो उसने अपने पति कौए से कहा – ''स्वामी! इस वृक्ष को छोड़ दीजिए, क्योंकि यहाँ रहनेवाला साँप हर बार मेरे बच्चों को खा जाता है। कहा भी है – 'जिस घर में दुष्टा स्त्री, धूर्त मित्र, पलटकर जबाव देनेवाला नौकर और सर्प रहता हो, उसमें रहने पर अपनी मृत्यु निश्चित समझनी चाहिए।'

कौआ बोला – ''प्रिये! तुम डरो मत। मैं बारम्बार इसकी दुष्टता सहता रहा हूँ। अब मैं इसे क्षमा नहीं करूँगा। कौवी ने कहा – ''तो क्या इस बलवान के साथ लड़ाई ठान सकोगे?'' कौए ने कहा – ''ऐसी शंका मत करो, क्योंकि –

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः।।

– 'जिसके पास बुद्धि है, उसी में बल भी रहता है। देखो न, कैसे एक खरगोश ने मतवाले सिंह को मार डाला था।' ''

कौवी हँसकर बोली – ''यह कैसे?'' कौआ कहने लगा –

कथा १३

मन्दार पर्वत पर दुर्दान्त नाम का एक सिंह रहता था। वह वन के अनेक पशुओं को मार डालता था। एक बार सभी पशुओं ने मिलकर उससे कहा – ''हे मृगराज! आप इकट्ठे ही अनेक पशुओं को क्यों मार डालते हैं? यदि आप अनुमति दें, तो हम प्रतिदिन एक एक पशु आपके भोजन के लिए भेज दिया करेंगे।'' सिंह ने कहा – ''यदि आप सभी की इच्छा हो, तो यही सही।'' तब से वह अपने लिए भेजे गए एक ही निश्चित पशु को खाकर उदरपूर्ति करने लगा। कुछ दिनों बाद एक बूढ़े खरगोश की बारी आयी। उसने सोचा – 'जीवित रहने की आशा से ही किसी के प्रति नम्रता दिखाई जाती है, परन्तु जब मरना निश्चित ही है, तो फिर सिंह से विनय क्यों करूँ? इसलिए धीरे धीरे चलता हूँ।''

जब वह भूख से पीड़ित सिंह के पास पहुँचा, तो सिंह ने पूछा – ''क्यों रे! तूने इतनी देरी क्यों लगाई?'' खरगोश ने

कहा – "स्वामी ! मेरा कोई कसूर नहीं है। मैं तो ठीक समय से ही आ रहा था, पर रास्ते में एक अन्य सिंह ने मुझे पकड़ लिया। उसके पास फिर वापस लौटने की प्रतिज्ञा करके ही मैं आपको बताने आया हूँ।" सिंह क्रुद्ध होकर बोला – "वह. दुष्ट कहाँ है? जल्दी से चलकर मुझे दिखा।" तब सिंह को साथ लिए खरगोश एक गहरे कुएँ के पास गया और – "यहाँ आकर आप स्वयं देख लें।" कहकर उसने पानी में सिंह की ही छाया दिखा दी। बस, सिंह गुस्से में भरकर, अभिमान से दहाड़ते हुए कुएँ में दिखती अपनी परछाई पर कूदा और मर गया। इसीलिए मैं कहता हूँ – 'जिसके पास बुद्धि है' आदि।

कौवी बोली – "यह तो मैंने सुन लिया। अब यह बताओ कि करना क्या है।" कौए ने उत्तर दिया – "राजकुमार हर रोज पास के सरोवर में स्नान करने आता है। जब वह स्नान करने आए और पानी में उतरने के पूर्व अपनी सोने की जंजीर उतारकर सीढ़ी पर रखे, तो तुम उसे अपनी चोंच से उठा लेना और उस साँप के कोटर में डाल देना। एक दिन राजकुमार जब अपनी सोने की जंजीर किनारे रखकर स्नान करने लगा, तो कौवी ने वैसा ही किया। जंजीर के लिए कौवी के पीछे पीछे दौड़नेवाले राज-कर्मचारियों ने कोटर में बैठे काले साँप को देखा, तो उसे मार डाला। इसीलिए मैं कहता हूँ – 'जो काम उपाय से हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं' आदि।

करटक बोला – यदि ऐसा है तो जाओ। तुम्हारी यात्रा मंगलमयी हो। इसके बाद दमनक राजा पिंगलक के पास गया और प्रणाम करके कहने लगा – महाराज ! मैं आपके ऊपर आ रही बड़ी विपत्ति को देखकर ही यहाँ आया हूँ। क्योंकि –

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ।।

– 'विपत्ति में, खराब रास्ते चलते समय और कार्यकाल का समय बीतता देखकर, जो बिना पूछे ही हित की बात कहे, वही अपना शुभचिन्तक है।' और – 'राजा तो भोग करनेवाला होता है, काम करनेवाला नहीं। राजा का कार्य बिगड़ने पर मंत्री ही दोषी होता है।' और देखिए, मंत्रियों का नियम यह है – "भले ही प्राण चले जायँ या सिर ही कट जाय, परन्तु उसे अपने स्वामी के पद को हड़पने का पाप करनेवाले व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।' "

राजा पिंगलक ने आदर के साथ कहा – "तो तुम कहना क्या चाहते हो?" दमनक बोला – "स्वामी, संजीवक आपके विरुद्ध कार्य करता दिख रहा है। उसने कई बार आपकी प्रभु-शक्ति, मंत्र-शक्ति तथा उत्साह-शक्ति की निन्दा करते हुए राज्य प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की है।"

यह सुनकर पिंगलक भय और विस्मय के साथ थोड़ी देर के लिए सन्न रह गया। दमनक फिर बोला – "आपने सभी मंत्रियों को छोड़कर एकमात्र उसी को सर्वाधिकारी बना दिया – यही गल्ती हुई है। क्योंकि – 'लक्ष्मी अति उन्नत मंत्री अथवा राजा – इन दोनों के चरणों के आश्रय में ही टिकती है। नारी-स्वभाव होने के कारण वह अधिक बोझ नहीं उठा सकती, अतः वह इन दोनों में से किसी एक को त्याग देती है।'

"और – 'जब राजा किसी एक मंत्री को अपने राज्य का सारा अधिकार दे देता है, तो अज्ञानवश उसे अभिमान घेर लेता है। तब अभिमान एवं आलस्यवश उसके हृदय में भेद-भाव उत्पन्न हो जाता है। भेद उत्पन्न होने पर उसके हृदय में सर्वेसर्वा बनने की भावना जागृत हो जाती है और इस भावना के कारण वह राजा से प्राणघातक द्रोह करने लगता है।' और भी है – 'विषमय अन्न, हिलते हुए दाँत और दुष्ट मंत्री को जड़ से उखाड़ फेंकने में ही कल्याण है।'

"फिर 'जो राजा अपनी राजलक्ष्मी को मंत्री के अधीन कर देता है, तो विपत्ति के समय वह उस अन्धे की भाँति दुखी होता है, जिसे कोई मार्ग दिखानेवाला नहीं होता। अन्त में वह मंत्री सारे कार्य अपनी इच्छानुसार करने लग जाता है। अब आपकी जो इच्छा हो सो करें। आप तो जानते ही हैं कि संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति न होगा, जो लक्ष्मी को न चाहे।' "

सिंह ने विचार करके कहा – "भाई ! यद्यपि तुम्हारा कहना ठीक है, पर संजीवक के साथ मेरा बड़ा प्रेम है। देखो –

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेष-दोष-दुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ।

– 'जो अपना प्रिय है, वह चाहे कितने ही दोष कर डाले, फिर भी प्रिय ही रहेगा। जैसे कि असंख्य दोषों से युक्त होकर भी अपना शरीर किसे प्रिय नहीं लगता?' और – 'जो अपना प्रिय है, वह अप्रिय कार्य भी करे, तो भी प्रिय ही रहेगा। अग्नि चाहे जितने ही घरों को क्यों न जला डाले, तो भी भला कौन उसका अनादर करता है !' "

दमनक सियार ने कहा – "स्वामी, यही तो बड़ी भारी भूल है। क्योंकि – 'अपने पुत्र, मंत्री या अपने प्रति उपेक्षा दिखानेवाले किसी व्यक्ति के प्रति राजा जब बड़ा स्नेह दिखाने लगता है, तो वह लक्ष्मीपात्र बन ही जाता है।' और सुनिये –

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः ।।

– 'रोगी का निर्दिष्ट भोजन यदि कड़वा हो, तो भी उसका फल सुखदायी होता है। और जहाँ ऐसे अप्रिय बातों को कहने तथा सुननेवाले रहते हैं, वहाँ सारी सम्पदाएँ विराजमान रहती हैं।' और अपने पुराने सेवकों को छोड़ इस नये अतिथि पर विश्वास करके आपने ठीक नहीं किया है। क्योंकि – 'अपने पुराने सेवकों को छोड़कर नये का कभी आदर न करना चाहिए; यही राज्य में गड़बड़ी पैदा करनेवाला सबसे बड़ा दोष है।' "

सिंह बोला – "बड़े आश्चर्य की बात है कि मैंने ही उसे अभयदान दिया, फिर यहाँ लाकर और ऊपर उठाया और वह मेरे ही साथ द्रोह क्यों करने लगा है?"

दमनक ने कहा – "स्वामी! दुर्जन मनुष्य की चाहे जितनी भी सेवा की जाय, वह कभी सीधा नहीं हो सकता। जैसे कुत्ते की पूँछ को चाहे जितना भी उबटन या तेल लगाकर सीधा किया जाय, फिर भी वह टेढ़ी की टेढ़ी ही रहेगी।' और भी –

स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्ठितः ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ।।

– 'किसी ने कुत्ते की पूँछ को बारह वर्ष तक तेल से तर करके खूब मालिश की और उसे रस्सी से बाँधा। फिर भी खोलते ही वह तत्काल टेढ़ी-की-टेढ़ी ही हो गई।' और भी कहा है – 'जैसे विषैले वृक्ष को अमृत से सींचा जाय, तो भी उसमें अच्छे फल नहीं लग सकते, वैसे ही उन्नति या सम्मान किसी दुष्ट स्वभाव-वाले व्यक्ति को प्रसन्न नहीं कर सकता।'

"इसीलिए मैं कहता हूँ – 'जिसकी हम हानि नहीं चाहते, उसके बिना पूछे भी हितकर सलाह देनी चाहिए। यही सज्जनों का धर्म है। इसके विपरीत करना दुर्जनों का काम है।' कहा भी है – 'वही अपना प्रेमी है जो बुरी राह चलने से रोके। कर्म वही उत्तम है, जो पवित्र हो। स्त्री वही अच्छी है, जो पति की आज्ञाकारी हो। बुद्धिमान वही व्यक्ति है, जो भले लोगों द्वारा सम्मानित हो। धन वही उत्तम है, जिससे अभिमान न हो। सुखी वही है, जो लोभ से मुक्त है। मित्र वही उत्तम है, जो सहज प्रेम करता हो और इस संसार में सच्चा मनुष्य वही है, जिसे इन्द्रियों द्वारा वशीभूत करके दुखी न बनाया जा सके।'

"इतना निवेदन करने पर भी यदि आप संजीवक के प्रेम से विरत नहीं होते, तो फिर हम जैसे शुभचिन्तक सेवकों का कोई दोष नहीं है। कहा भी है – 'कामासक्त हो जाने पर राजा अच्छे और बुरे कार्य को समझ नहीं पाता। वह मतवाले हाथी की तरह स्वतंत्ररूप से विचरता है। फिर गर्वोन्मत्त होकर जब वह शोकरूपी गड्ढे में गिरता है, तो इसका सारा दोष स्वयं स्वीकार न करके अपने सेवकों पर मढ़ देता है।' "

राजा पिंगलक ने (मन-ही-मन) सोचा – "किसी एक के अपराध का दण्ड दूसरे को नहीं देना चाहिए। स्थिति को पहले स्वयं भलीभाँति समझ ले, इसके बाद ही अपराधी को कारागार में डाले या निर्दोष पाकर उसका सम्मान करे। कहा भी है – 'गुण और दोष का निश्चय किये बिना किसी को अपनाना या त्यागना ठीक नहीं है। ऐसा करना मानो अभिमानवश अपना नाश करने के लिए सर्प के मुँह में हाथ डालना है।' (प्रकट में) – तो क्या संजीवक को निकाल दिया जाय?"

दमनक ने घबड़ाकर कहा – "नहीं, नहीं, ऐसा करने से तो भेद खुल जाएगा। कहा भी है – 'इस मंत्ररूपी बीज को जैसे बने वैसे गुप्त ही रखे। यह तनिक भी न फूटने पावे। क्योंकि फूट जाने पर वह उगता नहीं।' और –

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ।।

– किसी से जो कुछ लेना या देना है अथवा कोई काम करना है, उसे यदि तत्काल न करे तो समय उसका रस पी जाता है।

"इसलिए शुरू किये हुए काम का बड़े यत्न से सम्पादन करे। और फिर – 'मंत्र तो उतावले योद्धा की तरह कितना ही गुप्त रखने पर भी फूट जाने के भय से अधिक समय तक टिकना नहीं चाहता।' यदि दोष देखकर भी आप इसके साथ सन्धि करने का विचार करते हों तो यह और भी बुरा है। क्योंकि – 'एक बार दुष्टता किये हुए मित्र को जो फिर मिलाना चाहता है, वह उसी तरह मरता है जैसे कि खच्चरी खच्चर को जन्म देकर स्वयं मर-मिटने को ही गर्भ ग्रहण करती है।'

सिंह ने कहा – "अच्छा पहले यह पता लगाओ कि वह हमारा क्या कर सकता है।" दमनक ने कहा – "स्वामी! किसी के सहायक और सहायता को जाने बिना उसकी शक्ति का आकलन कैसे हो सकता है? देखिए न, मामूली टिटिहरी ने समुद्र को व्याकुल कर दिया था।" सिंह ने पूछा – "वह कैसे?" दमनक बोला –

❖ (क्रमशः) ❖
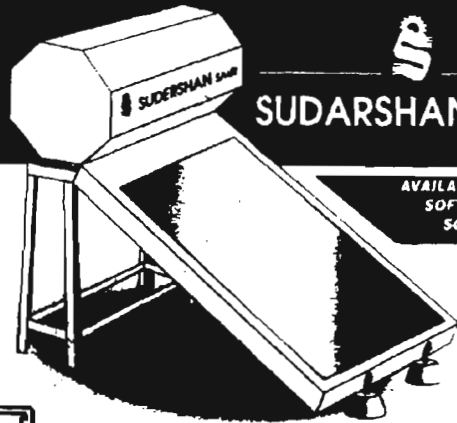
एक संन्यासी की भ्रमणगाथा (८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के साथ अपनी भ्रमण-गाथा लिखी थी, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकांनेर से प्रकाशित हुई। इस अत्यन्त रोचक तथा उपयोगी प्रबन्ध का धारावाहिक प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

निराभिमानी सेठ

अजमेर के पास का ब्यावर शहर बड़ा समृद्ध है। वहाँ सत्संग-प्रिय अच्छे धार्मिक स्त्री-पुरुष बहुत हैं। परिव्राजक संन्यासी एक बार ब्यावर गया। एक पूर्व-परिचित भाई ने वहाँ के सेठ सूरजमल जी के नाम पत्र देकर उनके बगीचे में ठहरने का इन्तजाम कर रखा था। अजमेर रोड के अन्तिम छोर पर यह बगीचा स्थित था। मकान अच्छा बृहदाकार था, गर्मियो में सेठजी अपने कुटुम्ब के साथ उसी में ठहरते थे। तहखाना बना रखा था, जिसे उन्होंने स्वयं ही संन्यासी को दिखाते हुए कहा था – "गर्मी में यदि आना हो तो हमारे साथ इसमें ठहर सकोगे, इसके अन्दर जरा भी गर्मी नहीं लगती और रात में तो इधर बड़ा आराम रहता है।"

सेठजी अच्छे सत्संगी और 'विचार-सागर' ग्रन्थ के अभ्यासी थे, इसलिए अधिकांश प्रश्न उसी में से किया करते थे। दो-चार दिन बाद फिर वही प्रश्न करते। इस प्रकार चक्राकार गति से उनके प्रश्न की पुनरावृत्ति हुआ करती। ... संन्यासी को एक अच्छे कमरे में ठहराया। दो अन्य सन्त भी उसी कमरे में ठहरे हुए थे। उनमें से एक जन तो तीन साल से भी अधिक काल से निवास कर रहे थे और शहर में माधुकरी भिक्षा करके आहार ले आते थे। कभी सेठजी के यहाँ भी भिक्षा के लिए चले जाते। ... इस सन्त ने एक दिन कहा – "मैं यहाँ तीन साल से हूँ। उसकी विद्या मुझे मालूम है। वह एक ही प्रश्न किया करता है, जो कोई नया आता है, बस वही प्रश्न करता रहता है। ... अब मेरे पास नहीं आता।"

संन्यासी पहले ही सुन गया था कि उस साधु से सेठ का खास प्रेम नहीं है, परन्तु "पड़ा रहने दो, सन्त है" – मन में ऐसा भाव रखकर कुछ कहता नहीं था और फिर वह सन्त भी माधुकरी से अपना गुजर चलाता, कभी कुछ माँगता नहीं था। परन्तु एक बात थी, रोज शाम को जितने भी सन्त ठहरे हों, सबको पक्का पाव भर दूध अवश्य देता, सो दूध घर पर जाकर लाए या दुकान से पीये अथवा नौकर के हाथों रात में मँगवा ले, जिसकी जैसी मर्जी ! बागवान-नौकर सुबह दस बजे से शाम तक दुकान पर काम करता था और सुबह को थोड़ा बहुत बाग में भी काम करता। वह जब रात में आता, तो अतिथि या सन्तों के लिए दूध आदि सामान ले आता।

संन्यासी शीत-ऋतु में वहाँ गया था। सेठजी अपने दो जवान पुत्रों के साथ अपने मकान से लगभग मील भर चलकर सुबह साढ़े पाँच से छह बजे के अन्दर आते थे। अपने हाथों से कुएँ में से पानी खींचकर प्रात: स्नान करते। फिर पूजा, गीता-पाठ वगैरह किया करते। दोनों पुत्र भी नहा-धोकर और गीता-पाठ या कुछ प्रार्थना आदि करके घर जाते। वृद्ध सेठजी का नियम कुछ अलग था, पूजा-पाठ के बाद बगीचे में से बैंगन-फली आदि जो भी सब्जी हो उसे स्वयं उठाकर, माली को आदेश देकर, फिर सन्तों से कुशल-प्रश्न करते थे और स्वयं वह सब्जी उठाकर घर ले जाते।

संन्यासी से बहुत विनयपूर्वक बातें करते और नित्य भिक्षा के लिए घर पर जाने को आग्रह किया करते। परन्तु संन्यासी को तो पूर्वोक्त सन्त के साथ या कभी अकेले ही माधुकरी करना अधिक पसन्द था। ज्यादा आग्रह करने पर वह सेठजी के घर पहुँच जाता, पर इस शर्त पर कि सेठजी भी साथ भोजन करेंगे। वृद्ध राजी हो जाते। संन्यासी के लिए तो नित्य शाम को दूध लाना अपने पर रखा था। लोटा भरकर गरम दूध लेकर वे स्वयं हाजिर हो संन्यासी के आगे धरते, वह जितनी मर्जी पी लेने के बाद अन्य सन्तों को दे देते और तब निश्चिन्त हो सत्संग किया करते। उनसे वार्तालाप करते समय संन्यासी को ऐसा लगता मानो एक सज्जन से बातें हो रही हैं। शान्त-स्वभाव, विनम्र, निरभिमान ये सत्पुरुष सत्संग में बड़ा आनन्द पाते थे।

संन्यासी जब भी भिक्षा के लिए सेठजी के घर गया, देखा कि भण्डार चालू ही है। बहुत-से लोग आते हैं और गुहार लगाते हैं – 'महाराज, रोटी दो' – बस। और दाल-रोटी खाकर चले जाते हैं। ये सब आड़तिया लोग, गाँव के आदमी होते हैं, जो व्यापार या किसी खास काम के लिए ब्यावर आते हैं और सेठजी की रसोई में भोजन करके चले जाते हैं। यहाँ वे अपने घर के जैसे खाना माँगकर खाते जाते हैं। रसोइया बिना कुछ बोले परोसता जाता है। सुबह दस-साढ़े दस से दो-ढाई बजे तक विद्यार्थी तथा अन्य आगन्तुक आते रहते थे। सेठजी का इस प्रकार चलनेवाला अन्नदान उदार तथा सुन्दर था। और एक खास बात यह थी कि सेठजी स्वयं भी वही सब खाते, जो सबके लिए पकाया जाता था।

जिस दिन संन्यासी भिक्षा के लिए जाता, उस दिन वे एक अलग सब्जी बनवाते और बाजार से दही मँगवाते। पहले रोज साथ में भोजन करते समय वे स्वयं दाल-रोटी लेकर बैठे। संन्यासी ने जबरन अपने थाल से कुछ सब्जी व दही उन्हें दी।

बोले – "नहीं चाहिए, महाराज, मुझे तो दाल-रोटी ही पसन्द है।" पर संन्यासी माना नहीं, जबरदस्ती उन्हें सब्जी आदि दी। बाद में वह जब भी भोजन के लिए गया, सेठजी जरा अधिक दही वगैरह मँगवा रखते, क्योंकि वे जान गए थे कि बँटवारा जरूर होगा। कितना सुन्दर भाव था उनका!

दो सप्ताह बाद वहाँ से दिल्ली जाने को हुआ, संन्यासी ने एक सभा में हाजिर रहने का आमंत्रण स्वीकार किया था। सेठजी मोटर नहीं रखते थे, एक घोड़ेगाड़ी से काम चला लेते थे। लड़के गाँवों में वसूली या अन्य व्यापारिक काम-काज के लिए उसी गाड़ी में जाया करते थे। संन्यासी ने दिल्ली का टिकट मँगवा लिया था और एक किराये के गाड़ीवाले से बात भी तय कर रखी थी, ताकि सेठजी की गाड़ी समय पर न आए, तो भी चिन्ता नहीं। दिल्ली की गाड़ी चार-साढ़े चार बजे आती थी। स्टेशन लगभग दो मील दूर था। सेठजी पैदल चलते हुए बगीचे में हाजिर हुए।

संन्यासी – "क्यों, घोड़ागाड़ी समय पर ले आएगा न?"

सेठजी – "एक गाँव में ले गया है, आशा तो है कि समय पर आ जाएगी और आपने भाड़े की गाड़ी भी तो ठीक कर रखी है।"

संन्यासी – "हाँ क्योंकि, आपकी गाड़ी का भरोसा नहीं है और आज जाना ही पड़ेगा कि क्योंकि वचन दे रखा है – सभा में समय पर हाजिर होना है।"

देरी होने लगी, संन्यासी चिन्तित हो उठा। न सेठजी की गाड़ी आयी और न भाड़े की, और स्टेशन भी दूर था! सेठजी समझ गए, आश्वासन दिया कि भाड़े की गाड़ीवाला अच्छा आदमी है, समय पर जरूर आ जाएगा। पर संन्यासी के लिए अब धैर्य रखना मुश्किल हो गया। बगीचे में या आसपास कोई मजदूर मिलना सम्भव न था। बगीचे का बागवान भी शहर में गया था, केवल एक जरा-जीर्ण बुढ़िया बैठी है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई आदमी भी नहीं दिखता।

– "स्वामीजी, आप चिन्तित हो गए हैं, चलिए सामान लेकर जरा आगे चलें, इतने में गाड़ी या कोई आदमी मिल जाएगा।" – इतना कहकर सेठजी ने पुस्तकों का २०-३० सेर का भारी बोझ कन्धे पर झट उठा लिया और बिस्तर लिया संन्यासी ने। दोनों रास्तें में चलने लगे।

संन्यासी ने कहा – "अगर कोई देख लेगा, तो कहेगा – सेठजी बाबाजी का बोझ उठा चलता है।"

सेठजी – "बस, इतना ही कहेगा न! इससे क्या? बाबाजी का ही तो बोझा उठाता हूँ और किसी का तो नहीं न?" – कहकर हँसने लगे।

इतने में भाड़ागाड़ी आ पहुँची और उसमें बैठकर ठीक समय पर स्टेशन पहुँच गए। दिल्लीवाली गाड़ी आ गई थी। सेठजी ब्यावर के लखपति धनाढ्यों में से एक थे, पर ऐसे निरभिमान सन्त-सेवक कि बोझा उठाकर रास्ते में चलने में भी जरा संकोच नहीं था।

धनिकों में ऐसे सत्पुरुष बिरले ही देखने में आते हैं। धन्य हो सेठजी!

अटल विश्वास

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव के गृहस्थ भक्तों में श्री देवेन्द्रनाथ मजुमदार प्रथम श्रेणी के भक्त माने जाते हैं। उनके सम्पर्क और सत्संग से बहुत से लोग धार्मिक जीवन में उन्नति करके सुखी हुए थे। मजुमदार महाशय स्वयं ईश्वर पर निर्भरशील तथा परम श्रद्धालु थे। रामभरोसे ही उनका काम चला करता! प्रभु की कृपा से जब-जैसा स्वयं ही आ मिलता, उसी से आप गुजर-बसर कर लेते, घर-गृहस्थी का खर्च निभा लेते। परन्तु यहाँ तो चर्चा उनकी नहीं, बल्कि उनकी एक प्रिय शिष्या की करनी है, जो संन्यासी से परिचित थीं।

परम भक्तिमती ये महिला संन्यासी पर श्रद्धायुक्त स्नेह का भाव रखती थीं। आयु में बड़ी और मातृ-भावापन्न होने के कारण संन्यासी उन्हें 'मौसीजी' कहा करता था। वृद्धावस्था के कारण आँखों में झमरिया पड़ने से धीरे धीरे उनकी दृष्टि लोप होने लगी थी। एक तरह का मोतियाबिन्द होता है, जो बहुत देर से पकता है या फिर पकता ही नहीं, दृष्टि हर लेता है। इन वृद्धा मौसीजी को वही हो गया था। घर में ही डॉक्टर होने पर भी उसका इलाज नहीं था, इस कारण वे दुखी रहा करती थीं। सिर्फ कहा करतीं – "हे भगवान! इतनी दृष्टि रख दो कि अन्त काल तक चलती-फिरती रहूँ और अपना सामान्य नित्य-कर्म कर सकूँ! पर उनकी दृष्टि धीरे धीरे इतनी क्षीण हो गई कि बिल्कुल नजदीक की चीजें भी कष्ट से देख पाती थीं।

बेलूड़ मठ में भगवान श्रीरामकृष्ण देव के विशाल मन्दिर की स्थापना हो चुकी थी। संन्यासी को एक दिन मौसीजी की बड़ी लड़की मिली और उसने घर आने का आग्रह किया। मौसीजी विधवा होने के बाद मेरठ में अपने अविवाहित पुत्र के पास न रहकर, इसी के पास ही रहती थीं। ... संन्यासी मिलने गया, तो मौसीजी रोती हुई कहने लगीं – "महाराज, बड़ी तीव्र इच्छा हो रही है कि एक दफे जाकर भगवान श्रीरामकृष्ण की मूर्ति का दर्शन करूँ, पर अब तो दृष्टि इतनी क्षीण हो गई है कि बहुत नजदीक जाने पर भी कुछ स्पष्ट नहीं दिखता, बस छाया सरीखा ही कुछ दिखता है। मेरे को तो उतने पास जाने देंगे ही नहीं और दें भी तो मूर्ति काफी बड़ी है, मैं देख नहीं पाऊँगी।... हे प्रभो! यदि इतनी दृष्टि आ जाय, तो अपना जीवन धन्य मानूँ! हे दयालु! इतनी कृपा तो करो!"

संन्यासी ने आश्वासन दिया – "प्रार्थना करती रहिए, उनकी कृपा होने से सब कुछ हो सकता है! आप तो जीवन

भर भक्तिपूर्वक भागवत-सेवा में रही हैं, यदि वे आपकी आन्तरिक प्रार्थना पूरी न करें, तो और किसकी करेंगे?''

दो या तीन साल बाद मौसीजी से दुबारा मिलना हुआ। संन्यासी ने जाकर देखा – वे बिना सहारे ही मकान में घूम-फिर रही थीं। आनन्द से परिपूर्ण। पास आकर बोलीं – ''प्रभु की असीम कृपा है। कोई साल भर पहले एक दिन अचानक ही मानो आँख के सामने से पर्दा हटा दिया गया हो और मैं साफ देखने लगी, बिना मदद के चलने-फिरने लगी, बेलूड़ जाकर भगवान श्रीरामकृष्ण की मूर्ति का भी दर्शन कर आयी। अहा। अपने आनन्द का क्या कहूँ! श्री भगवान की असीम कृपा का स्मरण करके मेरा हृदय भर आता है! उनकी दया से मेरी इच्छा पूरी हो गई! ... मन्दिर भी आंशिक छाया-दृश्य की भाँति देख सकी थी। वैसे एकदम स्पष्ट तो नहीं दिखता, पर जितना दिखता है उससे अपना काम चल जाता है। अहो! भगवान करुणामय हैं! मेरी प्रार्थना सुनेंगे ही – इस बात में मेरी श्रद्धा दृढ़ थी और आपने आन्तरिक प्रार्थना करने की सलाह भी दी थी।'' .... जय भगवान!

अचल श्रद्धा

महात्मा गाँधीजी का असहयोग-आन्दोलन जोर-शोर से चल रहा था। अभी प्रारम्भ ही था। आप स्वयं उत्तर प्रदेश के मुख्य मुख्य शहरों में भ्रमण करते हुए असहयोग समझा रहे थे। एक शहर के सरकारी कॉलेज के एक प्रोफेसर मूलतः पोरबन्दर के थे। महात्माजी भी काठियावाड़ (गुजरात) के थे और पोरबन्दर के तो थे ही, अतः प्रोफेसर ने स्व-प्रान्तवासी कहिए या स्व-ग्रामवासी गाँधीजी से मिलने का निश्चय किया। परन्तु अँग्रेज प्रधानाचार्य साहब ने निषेधाज्ञा जारी कर दी थी कि कोई भी प्राध्यापक या कर्मचारी महात्माजी से मिलने न जाय और यदि कोई इस हुक्म की अवहेलना करेगा, तो उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा।

परन्तु प्रोफेसर ने सोचा कि वह हुक्म वाहियात है। किसी स्व-ग्रामवासी से मिलने का तात्पर्य उनकी राजनीति से सहमत होना थोड़े ही है। गाँधीजी एक महान् व्यक्ति हैं और पोरबन्दर के ही निवासी होने के कारण मुझे उनसे अवश्य मिलना चाहिए। इसके बाद जो कुछ होगा, देखा जाएगा।

प्रोफेसर ने जाकर महात्माजी से मुलाकात की और उनसे बातचीत करके उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। इधर कॉलेज में यह बात पहुँच गई थी, प्रिंसिपल साहब हुक्म न मानने के कारण गुस्से में थे और उन्हें उचित दण्ड देने के लिए तैयारी कर चुके थे। कॉलेज पहुँचते ही उन्होंने प्रोफेसर से सफाई माँगी। बोले – ''स्व-ग्रामवासी हैं, इसलिए मिलने गया था, किसी राजनीतिक चर्चा में भाग लेने नहीं गया था।'' मगर साहब ने नोटिस दिखाते हुए कहा – ''यह बात ख्याल में रखनी थी।''

प्रोफेसर ने सोचा – जब यह नौकरी से हटाने ही वाला है, तो क्यों न स्वयं ही इस्तीफा दे दें! परमेश्वर की दया से जरूर कहीं और नौकरी मिल जाएगी। बस, वे बोल पड़े – ''यह लीजिए मेरा इस्तीफा! जहाँ अपने ग्रामवासी पूज्य व्यक्ति से मिलना भी गुनाह है, वहाँ मैं नौकरी करना नहीं चाहता।''

वह नौकरी छोड़कर चल दिया और जाकर महात्माजी से सारी बात सुनायी। महात्माजी बोले – ''यदि इसी कारण नौकरी गई है तो फिक्र मत करो, और कहीं मिल जाएगी।''

उन्हें आठ दिनों के भीतर ही कानपुर के एक गैर-सरकारी कॉलेज में नौकरी मिल गई। दो-तीन साल वहाँ रहे, फिर कॉलेज के प्रबन्धक के साथ तीव्र मतभेद हो जाने के कारण वह भी छोड़नी पड़ी। तीसरे ही दिन अजमेर में नौकरी मिल गई। यद्यपि तनख्वाह घटती जा रही थी, पर उनका दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर की दया से नौकरी जरूर मिलेगी और वह मिलती भी रही। अजमेर में ४-५ साल नौकरी ठीक चली, फिर विविध विषयों पर संचालकों के साथ मतभेद के कारण वे नौकरी छोड़ने की सोच रहे थे, इतने में राजकोट से आमंत्रण मिला – ''स्वदेश चले आओ, नये कॉलेज को अपनी सेवा देकर इसे सु-प्रतिष्ठित करो।'' वैसे तनख्वाह फिर घटी, तो भी उसे स्वीकार कर लिया और अजमेर छोड़कर राजकोट चल दिए।

संन्यासी का उनसे वहीं परिचय हुआ था। पहली ही भेंट में वे बोले – ''स्वामीजी, मुझे विश्वास है कि ईश्वर के अनुग्रह से मुझे नौकरी मिलती रहेगी, क्योंकि उन्हें पता है कि मैं सच्चाई से काम करता हूँ और नौकरी के बिना आर्थिक संकट में पड़ जाऊँगा।'' संन्यासी ने अफवाह सुनी थी कि 'आर्थिक कारण से राजकोट कॉलेज भी बन्द होनेवाला है। परन्तु वह बन्द नहीं हुआ, बल्कि ग्रीष्म-अवकाश से पूर्व मिशनरियों की किसी बड़ी संस्था के हाथों में दे दिया गया। छुट्टी के साथ ही सब प्रोफेसरों को भी नौकरी से छुट्टी मिली। जब कॉलेज फिर खुलेगा, तो नई शर्तों के अनुसार प्राध्यापकों की नई नियुक्ति की जाएगी। नोटिस जारी हुआ। प्रोफेसर मिला, बोला – ''स्वामीजी, ईश्वर की कृपा से सूरत से नौकरी का आफर मिला है।'' ... जय भगवान!

❖ (समाप्त) ❖

महत्त्वपूर्ण सूचना

'एक संन्यासी की भ्रमण-गाथा' के लेखक स्वामी जपानन्द जी महाराज ने अपने भ्रमण के दौरान हुए अनुभवों के आधार पर एक अन्य पुस्तक भी लिखी थी – 'मानवता की झाँकी'। आगामी अंक से उसी का धारावाहिक प्रकाशन होगा। – सं.

गीता का स्वरूप और तात्पर्य

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात' पुस्तक अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में इसके धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम क्रमशः प्रकाशित करेंगे। – सं.)

गीता का स्वरूप

सर्व-साधारण और विशेषत: पश्चिमी लोग केवल बौद्धिक कसरत या तर्कों की कलाबाजी को ही 'दार्शनिक ग्रन्थ' कहते हैं, उस अर्थ में गीता दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है। अर्जुन रूपी साधक के प्रत्यक्ष जीवन में उपस्थित एक विचित्र परिस्थिति का वह कैसे ठीक प्रकार से, दृढ़तापूर्वक सामना कर सके, इस हेतु जीवन के चरम सत्य का अनुभव करनेवाले, जीवन के सच्चे अर्थ को जाननेवाले, जीवन-पारंगत भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें जो 'जीवन-दर्शन' दिया, वही 'गीता' के रूप में प्रसिद्ध है। अर्जुन के जीवन में यदि यह प्रसंग उपस्थित न हुआ होता या उपस्थित होने पर भी, अर्जुन द्वारा 'मैं अपने इन सम्बन्धियों से नहीं लड़ूँगा' कहकर गाण्डीव नीचे रखने के साथ ही, भगवान द्वारा 'नपुंसक, दुर्बल मनवाला' कहकर धिक्कार किये जाने पर, उससे आहत होकर अर्जुन यदि तत्काल युद्ध के लिए तैयार हो जाता, तब तो गीता का जन्म ही न हुआ होता। जीवन का डटकर सामना किया जा सके, इसी हेतु इसकी रचना हुई है। यही इसका प्रयोजन है।

और इसीलिए गीता इतनी लोकप्रिय हुई है। व्यक्ति विद्वान् हो या न हो, अमीर हो या गरीब, छोटा हो या बड़ा, जीवन के विचित्र उलझनों से भ्रमित किसी भी जीवन-जिज्ञासु का गीता अचूक मार्गदर्शन कर सकती है। जीवन के अबाध विक्षिप्तताओं से घबराकर जिस जिस ने शान्ति हेतु गीता का आश्रय माँगा है, उनमें से प्रत्येक को इसने सहारा दिया है। जीवन में सर्वाधिक उलझनें पैदा करनेवाली राजनीति में सतत व्यस्त रहनेवाले, संयुक्त-राष्ट्र-संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीयुत डॉग हैमरसोल्ड को भी, कहते हैं कि गीता के निष्काम कर्मयोग में 'ग्रहण करने लायक कुछ' मिला था !

अहो भाग्य गीता का !!!

– २ –

पर यह भाग्य विशेष लुभावना नहीं है। स्वयं के जीवन में प्रकट होनेवाले किसी विकट प्रसंग से सहजतापूर्वक निकलने के लिए गीता की क्षणिक मदद मिलना एक बात है और स्वयं की बुद्धि द्वारा, स्वयं के जीवनानुभव के अनुसार समग्र गीता का 'अर्थ लगाने' का दुराग्रह करना अलग बात है। दुर्भाग्य से गीता के बारे में यह बहुत अधिक हुआ है। मनमाना अर्थ निकालने के लिए गीता की जितनी खींचतान हुई है, उतनी जगत् के दूसरे किसी भी शास्त्र-ग्रन्थ की नहीं हुई।

* * *

आज के इस 'बुद्धिवाद' के युग में इस पर कोई भी सहज भाव से कहेगा – "तो इसमें बुरा ही क्या है? इसमें गलत क्या है? यदि हमने स्वयं की बुद्धि की मदद से अपने अपने अनुभवों के अनुसार गीता का अर्थ लगाया, तो क्या इसमें सचमुच ही कोई हानि है?"

यह कथन पूर्णत: उचित व स्वीकार्य प्रतीत होता है। पर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में जो ज्ञान या जीवन-विद्या बतायी है, उसका स्वरूप और अपनी बुद्धि के गठन तथा अपने अनुभवों के स्वरूप को ध्यान से देखें, तो सहज ही पता चलेगा कि अपनी बुद्धि और अनुभवों के द्वारा गीता के अर्थ का यथार्थ आकलन करने की हमारी कल्पना कितनी संकुचित, कितनी बचकानी, कितनी मूर्खतापूर्ण, कितनी घातक तथा कितनी आत्मघाती है।

गीता के हर अध्याय के अन्त में 'इति श्रीमहाभारते' आदि संकल्प आता है। उसमें गीता में वर्णित जीवन-विद्या का स्वरूप बड़े ही सुन्दर तथा मार्मिक शब्दों में व्यक्त होता है। उसमें कहा जाता है – **श्रीमद्-भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे** – "यह भगवान श्रीकृष्ण द्वारा बताई हुई उपनिषद् है, ब्रह्मविद्या है, योगशास्त्र है।" गीता में ब्रह्मविद्या बतायी गयी है और जिस उपाय से उस विद्या का बोध होगा, जिस उपाय से उसे वास्तविक जीवन में उतारा जा सकेगा, उस उपाय (अर्थात् योग) को भी गीता में बताया गया है। 'ब्रह्मविद्या' तथा 'योगशास्त्र' इन दो चुनिन्दा शब्दों में गीता का जितना सटीक, युक्तियुक्त तथा अचूक वर्णन किया गया है, उतना तो सैकड़ों स्तुतिपरक शब्दों द्वारा भी नहीं किया जा सकता।

* * *

जिससे सम्बन्धित विद्या गीता में बतायी गयी है, उस ब्रह्म के – जगत् तथा जीवन के उस अन्तिम सत्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

– "इस जगत् में जितने भी जीव हैं, जितनी भी वस्तुएँ हैं, मैं उन सभी में व्याप्त हूँ और वे सब मुझमें अवस्थित हैं, पर हे अर्जुन, इस विषय में मैं तुम्हें एक अत्यन्त गूढ़, अद्भुत सत्य बताता हूँ और वह यह कि वस्तुतः मैं भी इस जगत् में व्याप्त नहीं हूँ और यह जगत् मुझमें अवस्थित नहीं है। इसलिए कि इस जगत् में दो सत्ताएँ तभी एक दूसरे में अवस्थित हो सकती हैं, जब वे दोनों सत्य हों। परन्तु हे अर्जुन, इस जगत् का वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है। मैं ही इस समस्त विश्व के रूप में क्रीड़ा कर रहा हूँ, परन्तु मुझे न जानने के कारण जीव स्वयं को तथा जगत् को सत्य समझ कर भ्रमित रहता है। भ्रम के कारण दिखनेवाले सर्प में, उसकी आधारभूत रज्जु ओतप्रोत रहती है, और वह सर्प उस रज्जु में बसता है; परन्तु और गहराई से देखने से, ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि वह रज्जु भी साँप में नहीं है और साँप भी रज्जु में नहीं है, क्योंकि साँप वस्तुतः है ही नहीं। है तो केवल रज्जु ही और वही सर्प के रूप में भास रही है, दिख रही है। हे अर्जुन, यही मेरा ऐश्वर्य है – यही इस जगत् का यथार्थ स्वरूप है।"

और इसीलिए जब अर्जुन आगे चलकर भगवान से कहते हैं –"प्रभो, दया करके मुझे इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कराओ।" तब भगवान उनसे कहते हैं –

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

– "हे अर्जुन, जब तक तुम्हें अपने इन नेत्रों से इस जगत् का अनुभव हो रहा है, तुम्हें उसी रूप में यह सत्य प्रतीत हो रहा है, तब तक तुम्हें बोध नहीं हो सकता कि 'यह जगत् परब्रह्म का लीला-विलास है'। मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ, अतीन्द्रिय अनुभूति की शक्ति देता हूँ, जिसके द्वारा तुम्हें इस सत्य का अनुभव हो सकेगा।"

* * *

सारांश यह कि जब तक हमारा अपने तथा जगत् के बारे में विषय-विषयी (subject-object) या ज्ञाता-ज्ञेय से सीमित रहनेवाला मिथ्या अनुभव दूर नहीं होता, तब तक अपने स्वयं का तथा जगत् का सत्य स्वरूप जो ब्रह्म है, उसका अनुभव करना, 'सम्यक् दर्शन' पाना कदापि सम्भव नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा ज्ञान, हमारा सब कुछ इसी विषय-विषयी के चक्र में घूमता रहता है। विवेक-वैराग्य का आश्रय लेकर यथार्थ ज्ञान की साधना द्वारा इस विषय-विषयी के बोध के परे गए बिना इस विषय तथा विषयी के परमात्मा-रूप वास्तविक स्वरूप का बोध होना सम्भव नहीं है। कठोपनिषद् में इस वस्तुस्थिति का अत्यन्त सुन्दर, मार्मिक ढंग से वर्णन किया गया है –

यदा पंचाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते ताम् आहुः परमां गतिम् ।।

– "शास्त्रों तथा आचार्यों के उपदेशों की स्पष्ट धारणा करने के बाद, जब यह बोध उत्पन्न होता है कि पंच ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के द्वारा अन्दर-बाहर भासनेवाला यह जगत् मिथ्या तथा परब्रह्म का लीला-विलास है और उस बोध से जब अन्तःकरण पूर्णतः शान्त, निस्तरंग हो जाता है, तब उस शान्त, निर्मल, तरंगहीन पारदर्शी अन्तःकरण में उस चरम सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।"

* * *

वस्तुस्थिति ऐसी होने के कारण वर्तमान अविद्यावस्था में स्वयं के जीवन में होनेवाले अनुभवों के आधार पर, स्वयं की बुद्धि से गीता का अर्थ लगाकर उसका मर्म, उसके रहस्य का उद्घाटन करने की हमारी चेष्टा क्या निरर्थक नहीं है? गीता में निहित सत्य – गीता का तत्त्वज्ञान – गीता का जीवन-दर्शन इन्द्रियातीत है। वह बुद्धिविरोधी नहीं, बल्कि वह बुद्धि के परे है। अतः अपनी बुद्धि को चलाकर गीता के अर्थ की धारणा करने का बालहठ करके हम गीता के सच्चे अर्थ से, गीता के ज्योतिर्मय मार्ग-दर्शन से वंचित रहकर अत्यन्त अभागे साबित होंगे, इसमें भला क्या संशय हो सकता है?

– ३ –

और इसीलिए हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा बोध – यथार्थ, उचित साधना द्वारा शुद्ध होकर अतीन्द्रिय सत्य की अनुभूति के योग्य हो सके, तभी हमें स्पष्ट तथा समुचित रूप से गीता के वास्तविक तात्पर्य का बोध हो सकेगा। और तभी हमारा जीवन धन्य हो सकेगा। पूज्यपाद श्री ज्ञानेश्वर इसी बात को अपनी 'भावार्थ-दीपिका' की भूमिका में हमारे मन में बैठाने का प्रयत्न करते हैं – "शरद पूर्णिमा की चाँदनी में अमृत है, पर यह बात सिर्फ चकोर ही जानता है, क्योंकि उसके मन की एक विशिष्ट अवस्था है। चकोर जैसे संवेदनशील मन से वह अमृत लेता है, वैसे ही हमें भी अपने चित्त को अनुभूतिक्षम बनाकर इस गीता के अमृत का अनुभव करना चाहिए। गीता एक ग्रन्थ मात्र नहीं है। यह अमृत ब्रह्मतत्त्व का वाङ्मयीन रूप है। गीता में भगवान ने जिस अतिन्द्रिय अमृत ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया है – हमारे मन-बुद्धि के परे है, अतः इसके अर्थ की धारणा करने की एक विशिष्ट रीति है। भ्रमर कमल से पराग लेता है, परन्तु उससे कमल को आघात नहीं लगता। गीता को भी बिना आघात पहुँचाए हमें उसके अर्थ – उसके रहस्य व तात्पर्य को आत्मसात् करना होगा। (तथाकथित शोध के नाम पर अपनी इच्छा तथा सनक के अनुसार तोड़-

मरोड़कर, चीर-फाड़कर, उसमें अपने पसन्द के विचार दर्शाने हेतु उसको यथेच्छा उलट-पलट कर, व्याकरण तथा भाषाशास्त्र की आड़ लेकर, उसके शब्दों का अपनी सुविधानुसार अर्थ लगाकर, मनमाने ढंग से उसके किसी अंश को प्रक्षिप्त और किसी अंश को विक्षिप्त बताते हुए, उसकी यथेच्छा संगति बैठाने का व्यर्थ परिश्रम निरर्थक है, क्योंकि गीता एक पुस्तक मात्र नहीं है। भगवदावतार श्रीकृष्ण के उस ट्रांसेंडेंट – सर्वातीत – इमेनेन्ट – सर्वव्यापी परम सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति का वह केवल वाङ्मयीन रूप है। अतीन्द्रिय अनुभूति की शक्ति पाये बिना, उस अतीन्द्रिय अनुभव की धारणा भला कैसे की जा सकेगी?) चन्द्र-किरणों का स्पर्श होते ही खिलने की शक्ति चन्द्र-विकासी कमल में रहती है। और इसीलिए चन्द्रमा का उदय होते ही वह खिलता है और चन्द्रोदय के आनन्द का अन्तर से उपभोग करता है। हमारे अन्त:करण में भी गीता के चैतन्य-चन्द्र के स्पर्श से खिलने की शक्ति होनी चाहिए, तभी हम इहलोक को छोड़े बिना ही अर्थात् इसी जीवन में हम उस अमृत-स्वरूप, आनंदघन चैतन्यनाथ का आलिंगन कर सकेंगे? विवेक-वैराग्यजनित बोध से जिसका हृदय नितान्त शान्त, स्थिर, निर्मल तथा पारदर्शी हो चुका है, उसी को तो उस हृदयेश्वर का साक्षात्कार हो सकेगा? उस भाग्यवान को ही तो बोध होगा कि वह स्वयं तथा इस जगत् के अन्य सभी व्यक्ति और वस्तुएँ उस सच्चिदानन्द-सिन्धु की एक एक तरंग है – अन्दर-बाहर सर्वत्र वह अपरम्पार आनन्द-सागर ही कल्लोल कर रहा है – सब कुछ केवल चिद्विलास है?'' अस्तु।

– ४ –

गीता का तात्पर्य

वैष्णवीय तंत्रसार में एक सुन्दर श्लोक है –

सर्वोपनिषदो गाव: दोग्धा गोपालनन्दन: ।
पार्थो वत्स:, सुधी: भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

– सभी उपनिषद् मानो गायें हैं, पार्थसारथी भगवान कृष्ण उन्हें दूहनेवाले ग्वाले हैं, उनके सखा अर्जुन मानो बछड़े हैं, शुद्ध चित्त के धर्मपिपासु-गण उस दूध को पीनेवाले हैं और उपनिषद् रूपी गायों का अमूल्य दूध ही गीतारूपी अमृत है।

हम हिन्दुओं के आदि धर्मशास्त्र हैं उपनिषद् और उन समस्त उपनिषदों का सार इस एक गीता में समाविष्ट है, यही इस सुन्दर, मार्मिक श्लोक के रचयिता का कथन है। महाभारत में इसी भावना को निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है –

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यै: शास्त्रविस्तरै: ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्मात् विनि:सृता ।।

– ''भगवान श्रीकृष्ण के मुखपद्म से निकली इस गीता को भलीभाँति आत्मसात् कर लिया जाय, तो फिर किन्हीं अन्य शास्त्रों का अध्ययन करने की जरा भी आवश्यकता नहीं।''

वेद-वेदान्त का, समस्त शास्त्रों का सार जिस गीता में है, संक्षेप में इसका सार बताते हुए, गीतारूपी चाँदनी के कोमल अमृतकणों का अपने विनम्र, नाजुक मन से स्वाद लेकर धन्य होनेवाले कृष्ण-चन्द्र-चकोर श्री ज्ञानेश्वर अपने निर्दोष, मनोहारी शब्दों में कहते हैं – ''कल्पना करो कि गुलाब के फूलों की एक माला है, जिसमें अट्ठारह लड़ियाँ हैं। उन अट्ठारह लड़ियों की माला में कुल मिलाकर ७०० गुलाब के फूल गुँथे हुए हैं। उन फूलों से कितने प्रकार की सुगन्ध आएगी? एक ही न! वैसे ही गीता में अट्ठारह अध्याय हैं और उन सभी अध्यायों में कुल मिलाकर ७०० श्लोक हैं। उन अट्ठारह अध्यायों के ७०० श्लोकों में भगवान ने क्या बताया है? – वही 'एक' जिसका कोई 'दूसरा' नहीं है! – वही **एकमेवाद्वितीयम्**।।

* * *

एकमेवाद्वितीयम्! भगवान अर्जुन को बताते हैं –

मत्त: परतरं किंचित् नान्यत् अस्ति धनंजय ।
मयि सर्वम् इदं प्रोतं, सूत्रे मणिगणा: इव ।।

– ''हे धनंजय! इस विश्व में अन्दर-बाहर कहीं भी मेरे सिवाय और कुछ भी अस्तित्व में नहीं है। सर्वत्र, सभी रूपों में एक ही चिन्मय आनन्द-सिन्धु उमड़ रहा है। सोने के मणियों को सोने के तार में पिरोया जाए, उसी प्रकार यह जगत् अन्तर्बाह्य रूप से मैंने ही व्याप्त कर रखा है। कपड़ा जिस तरह तन्तुओं से ओतप्रोत रहता है, उसी प्रकार यह जगत् मुझमें ओतप्रोत है – धागे के बिना जैसे कपड़े का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता, वैसे ही मेरे बिना इस विश्व का अलग अस्तित्व नहीं है। कपड़े के नाम तथा रूप में वस्तुत: धागा ही विद्यमान रहता है, वैसे ही इस विश्व के सभी नामों में स्थित 'नामी' और समस्त रूपों में स्थित 'रूपी' मैं ही हूँ।'' एकमेवद्वितीयम्!

– ५ –

परन्तु यदि ऐसा ही है – यदि उस एकमेवाद्वितीयम् के अतिरिक्त अन्दर-बाहर कहीं भी कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, तो फिर हम अपने तथा जगत् के सन्दर्भ में इस मंगल सत्य का अनुभव क्यों नहीं कर पाते?

भगवान गीता में इसका कारण बताते हैं –

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव: ।

– ''जीवों का बोध, उनका अन्त:करण अज्ञान से, अविद्या से आच्छन्न होने के कारण यह स्वयंसिद्ध सत्य उनके अनुभव में नहीं आ पाता। और सत्य का बोध न होने के कारण, प्रतीत होनेवाले असत्य जगत् की सत्यता का भ्रम उनके जीवन को ढँक लेता है। असत्य के प्रति इस मोह के कारण ही उनका जीवन किसी जन्तु के समान ही निकृष्ट हो जाता है।''

* * *

पूज्यपाद श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं – इस अज्ञान को हटाकर उस एकमेवाद्वितीय आनन्दमय का अन्दर-बाहर अनुभव पाकर कैसे चिरतृप्त – कृतार्थ हुआ जा सकता है, यह गीता में बताया गया है – बल्कि सच कहें तो यही बताने के लिए गीता का जन्म हुआ है। वे कहते हैं – "आज अनुभूत होनेवाला यह भोग्य-भोक्ता, विषय-विषयी का विस्तार स्वरूपतः मिथ्या है, वस्तुतः उस एकमेवाद्वितीय का लीला-विलास है – यह ज्ञान या बोध जिस उपाय के द्वारा होगा, वही गीता है।" भगवत्पाद आचार्य शंकर अपने गीता-भाष्य की भूमिका में असंदिग्ध, उर्जस्वल, स्फूर्तिदायी शब्दों में कहते हैं – **तस्य अस्य गीता-शास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं – परं निःश्रेयसं, सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्** – अर्थात् "इस दुःखमय संसार में, 'मैं-मेरा' की भावना के मूल में स्थित अज्ञान का पूर्ण नाश करके, ब्रह्मानन्द की परम मंगल, कल्याणमय अवस्था की प्राप्ति करा देना ही गीता का उद्देश्य है।"

* * *

यह उद्देश्य कैसे सिद्ध होता है?

इसके लिए गीता मानव-जाति को अपना अजर, अमर, सन्देश प्रदान करती है –

यतः प्रवृत्तिः भूतानां, येन सर्वम् इदम् ततम्।
स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

– "जिस एकमेवाद्वितीय परम पुरुष से इस समस्त विश्व का निर्माण हुआ है, इस जगत् के नाना रूपों में जो क्रीड़ा कर रहा है, उस विश्वमय की स्वयं के कर्मरूप पुष्पों से पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है।"

यह प्रयोजन, मानव जीवन का यह उद्देश्य कर्म से सिद्ध होता है। पर किस प्रकार के कर्म से?

भगवान पूर्णतः स्पष्ट शब्दों में बताते हैं – सिर्फ कर्म करने से उद्देश्य पूरा नहीं होगा। उस कर्म में ऐसा बोध होना चाहिए कि 'वे एकमेवाद्वितीय प्रभु ही मुझमें तथा जगत् के सभी में विराजमान हैं।' और अन्तःकरण में ऐसा बोध आने पर तुम्हारे कर्माचरण में अपने आप यह भाव निर्मित होगा कि 'मैं यंत्र हूँ, प्रभु यंत्री हैं' और 'मैं निमित्तमात्र हूँ'। और यह बोध उस कर्म को 'कर्मयोग' में परिणत कर देगा। उस कर्म के द्वारा हम प्रभु से युक्त हो जाएँगे। और यहीं न रुककर भगवान श्रीकृष्ण आगे कहते हैं – सिर्फ कर्म और ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है। उस कर्म में ऐसा भक्तिभाव होना चाहिए कि इस बोधयुक्त कर्म (अर्थात् कर्मयोग) से हम उस परम पुरुष की 'पूजा', अर्चना' कर रहे हैं। तभी उस कर्म से सिद्धि-लाभ होगा। अन्यथा वह कर्मयोग केवल हमारी 'बुद्धि' तक ही रहेगा, हमारे 'हृदय' को स्पर्श नहीं कर सकेगा। सारांश यह कि कर्म, ज्ञान एवं भक्ति द्वारा उस सर्वभूतमय भगवान से युक्त होना होगा – कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग – इन तीनों योगों का अनुष्ठान करना होगा। और तभी साधक को 'सिद्धि' प्राप्त होगी।

* * *

अर्थात् क्या होगा?

साधन-रहस्यज्ञ ज्ञानेश्वर कहते हैं कि इस तरह की कर्म रूपी अर्चना के द्वारा साधक को 'वैराग्यसिद्धि' की प्राप्ति होती है – साधक के हृदय में यथार्थ वैराग्य का उदय होता है। उसके चित्त में सच्चा, यथार्थ तथा जीवन्त बोध उत्पन्न होता है कि इस दो दिनों के संसार में एकमात्र प्रभु ही सत्य हैं, बाकी सब कुछ अनित्य है, असत्य है। तब साधक को भगवान की ही लगन लग जाती है। उसके मन में परमेश्वर-प्राप्ति, सत्य-लाभ के लिए तीव्र व्याकुलता प्रकट होती है, 'तन्मयता' पैदा होती है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते थे – उसके जीवन में अरुणोदय अर्थात् सूर्योदय के पूर्व की स्थिति आती है।

इस 'वैराग्य-सिद्धि' या 'अरुणोदय' को ही भगवत्पूज्यपाद आचार्य शंकर ने 'ज्ञाननिष्ठा-योग्यता' कहा है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति द्वारा परमात्मा से युक्त होने के इन प्रयत्नों को – स्वकर्म द्वारा उस सर्वभूतस्वरूप परम पुरुष की अर्चना को – आचार्य शंकर 'कर्मनिष्ठा' कहते थे। इस 'कर्मनिष्ठा' के आचरण से साधक का मन शुद्ध होता है, उसकी 'मैं-मेरी' की वृत्ति, उसके मन का विषय-विषयी का भाव क्रमशः नष्ट होने लगता है। उस साधक के मन में, बाहर-भीतर नाना रूपों में विराजमान रहनेवाले उन भगवान में निमग्न होने की क्षमता उत्पन्न होने लगती है। आचार्य शंकर ने इस क्षमता को 'कर्मनिष्ठा-जनित सिद्धि' या 'ज्ञाननिष्ठा-योग्यता' कहा है।

* * *

भगवान श्रीरामकृष्ण कहते थे – "व्याकुलता उत्पन्न होते ही समझ लो कि अरुणोदय हो चुका है, अब सूर्योदय में देर नहीं है।" साधक इस 'अरुणोदय' से 'सूर्योदय' अर्थात् पूर्ण ज्ञानोदय तक का मार्ग कैसे पार करता है, इसका भगवान श्रीकृष्ण ने सुन्दर, विस्तृत वर्णन किया है। वे कहते हैं –

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो, धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा, राग-द्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वासी यत-वाक्काय-मानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

– "स्वकर्म से उन विराट् पुरुष की अर्चना करते करते साधक का अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है। इस जगत् तथा स्वयं के विषय में उसकी धारणा बदलने लगती है – अब उसे भले ही

अस्पष्ट रूप से, पर प्रत्यक्ष बोध होने लगता है कि वे एकमेव-अद्वितीय प्रभु ही उसके अपने तथा इस जगत् के रूप में क्रीड़ा कर रहे हैं – 'मैं और यह जगत्' मिथ्या होने के कारण वस्तुत: वह उन चिन्मय का लीला-विलास है और इसलिए उसका अन्त:करण अब इस मिथ्या का त्याग कर, उस अस्पष्ट रूप से प्रतीत होनेवाले सत्य की स्पष्ट व पूर्ण अनुभूति प्राप्त कर लेने को सतत तड़पने, व्याकुल रहने लगता है। उसके मन में उस आनन्दमय सत्य की पूर्ण उपलब्धि कर लेने की दृढ़ इच्छा पैदा होती है – किसी भी बात से विचलित हुए बिना, अन्य किसी भी आकर्षण में पड़े बिना, वह अधिकाधिक उस चिद्विलास के बोध में डूबने का प्रयत्न करने लगता है। उसकी इस व्याकुल विरागपूर्ण मन:स्थिति का परिणाम उसके आचार-विचार तथा आहार-विहार पर भी दिखाई देने लगता है। वह जनसंग को टालकर एकान्त में एकाकी साधना करते हुए संयमित जीवन व्यतीत करने लगता है। भोग-सुखों से वितृष्णा और सदा उन ईश्वर से ही लगन, सदा उन्हीं का ध्यान – अब यही साधक की दिनचर्या बन जाती है। काम, क्रोध, लोभ आदि तो अब उसके लिए चिर-पराये तो होते ही है, साथ ही उसके स्वयं की परमात्मा से पृथक् अस्तित्व की भावना भी क्रमश: पिघलने और विलीन होने लगती है। चिद्विलास की जो अनुभूति शुरू में धुँधली थी, कभी प्रकट होती थी तो कभी छुप जाती थी, इस साधना से अब स्पष्ट रूप से सुप्रतिष्ठित होने लगती है। टिमटिमाती ज्योति अब स्थिर, शान्त भाव से जलने लगती है। उसके पावन उज्जवल प्रकाश में अब उसे अपने भीतर-बाहर सर्वत्र अत्यन्त स्पष्ट रूप से वे प्रभु ही दिखाई देने लगते हैं। उसकी 'मैं नहीं, बस तू' की अनुभूति अति उत्कट, अति सघन होने लगती है। उसे 'पराभक्ति' की उपलब्धि हो जाती है। उस बोध में वह पूर्णत: प्रतिष्ठित हो जाता है।''

इस प्रकार हृदय से 'कर्मनिष्ठा' का आचरण करते हुए, अधिकाधिक साधना करते हुए, वह साधक 'ज्ञाननिष्ठ' बन जाता है। उसे अनुभव होने लगता है कि कर्ता-कर्म-क्रिया, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, भक्त-भक्ति-भगवान – ये सभी उसी 'एक' के त्रिविध रूप हैं। 'मैं अमुक का पुत्र हूँ' ही नहीं, उसका 'मैं साधक हूँ' – यह बोध भी ज्ञानानुभव से उद्भासित हो जाता है। उसके मन में ऐसे बोध का उदय होता है कि 'मैं प्रभु से अलग नहीं हूँ', 'वे ही मैं है', 'मैं वही हूँ'। शास्त्र में इसी को 'अद्वैत-वृत्ति' या 'ब्रह्माकारा-वृत्ति' कहा गया है। शंकराचार्य इसी को 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। यही 'पराभक्ति' है। इसी अवस्था के बारे में श्रीरामकृष्ण कहते थे – ''जैसे किसी काँच की अलमारी में रखी हुई पुस्तक हमें स्पष्ट दिखाई देती है, वैसे ही इस अवस्था में साधक को प्रभु का दर्शन होता है।'' हम उस पुस्तक का नाम तक स्पष्ट रूप से पढ़ सकते हैं। पर अभी तक वह हमारे हाथों में नहीं आयी है – हमारे और उस पुस्तक के बीच रुकावट के रूप में वह पारदर्शी काँच विद्यमान है। 'मैं प्रभु से भिन्न नहीं हूँ, मैं और वे अभिन्न हैं' – इस मनोवृत्ति में 'मैं' ही वह पारदर्शी काँच है।

अब वह 'ज्ञाननिष्ठ' साधक घर के उस दरवाजे पर दस्तक देने लगता है, जिसे खोलने पर घर-मालिक से प्रत्यक्ष भेंट होती है। और इस प्रकार दस्तक देते देते –

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:।
ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

भगवान कहते हैं – ''उस ज्ञाननिष्ठा-रूपी पराभक्ति में, मुझ एकमेवाद्वितीय में अधिकाधिक डूबते डूबते ... वह 'काँच' हट जाता है। ऐसा प्रत्यक्ष बोध होने लगता है कि चित्समुद्र और उसकी लहरें – ये दोनों पूर्णत: एक हैं, पूर्णत: अभिन्न हैं। यह 'अद्वैत-वृत्ति' सदा के लिए 'अद्वैत-दीप्ति' में विलीन होकर समाप्त हो जाती है। जो कभी था ही नहीं, वह सदा के लिए चला जाता है। जो सदा से ही था, वह सदा के लिए रह जाता है। 'ज्ञाननिष्ठा' 'ज्ञान' में विलीन हो जाती है। 'अरुणोदय' अब 'सूर्योदय' में परिणत हो जाता है। उस महाभागी साधक के जीवनाकाश में कभी अस्त न होनेवाले चित्सूर्य का उदय होता है। निर्विकल्प समाधि में डूबकर साधक कृतार्थ हो जाता है, मुक्त हो जाता है। श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त फल प्राप्त करके वह सदा के लिए तृप्त हो जाता है, धन्य हो जाता है।

गीता आदि सभी शास्त्रों का प्रयोजन उसके जीवन में चरितार्थ हो जाता है।

– ६ –

उपसंहार

तो, ऐसा है गीता का स्वरूप! ऐसा है गीता का तात्पर्य! ऐसा है गीतोक्त सिद्धि का मर्म! ऐसा है गीताप्रणीत साधना का धर्म! ऐसा है 'सत्यदर्शी' श्रीरामकृष्ण-शंकर-ज्ञानेश्वर आदि की स्वानुभूति से प्रगट हुआ तथा असंख्य सत्याकांक्षी, सुभागी साधकों द्वारा जाँचा-परखा हुआ भगवद्-गीता का रहस्य।

* * *

अपने लेखन में जीवन का प्रतिबिम्ब चित्रित करने के इच्छुक आज के साहित्यकार आक्रोश प्रकट करते हैं कि हमारा जीवन 'वही-वही'-पन के एकांगी भाव से भर गया है, पूर्णत: 'रूटीन' बन गया है। व्यर्थता के भाव से भरा हमारा 'नन्हा-सा जीवन' नितान्त तिरस्करणीय बन गया है – इतना क्षुद्र, इतना तुच्छ बन गया है कि उस पर घृणा आती है। परिस्थिति का अम्ल पी-पीकर हमारे दुर्बल मन पिलपिले हो गए हैं। पता ही नहीं चलता कि हम मानव हैं या कीड़े-मकोड़े!

इस तरह के शिकवे-शिकायतों में भले ही अतिशयोक्ति हो, परन्तु हमारे जीवन का यह चित्रण एकांगी तथा अतिरंजित

होने के बावजूद बिल्कुल निराधार, बिल्कुल असत्य नहीं है। हमारा जीवन सचमुच ही इस तरह का अर्थहीन, आशयहीन और इसीलिए निकृष्ट पदार्थ हो गया है।

मन में प्रश्न उठता है – मानव-जीवन क्या आजकल में ही अर्थहीन, आशयहीन और निकृष्ट बना है, या सदा से ही इसका यही स्वरूप है? हमारे कवियों, साहित्यकारों, कलाकारों की उपरोक्त बड़बड़ाहट से ऐसा प्रतीत होता है कि इस अर्थहीनता, आशयशून्यता तथा उद्विग्नता लानेवाले 'वही-वही'-पन ने अभी हाल ही में मानव-जीवन में प्रवेश किया है।

परन्तु वस्तुस्थिति केवल ऐसी नहीं है। आनेवाले आज-कल-परसों से बिल्कुल निरपेक्ष मानव-जीवन के निर्मल चित्र में रंग भरते हुए जीवन-दर्शी आचार्य शंकर अपने अमर शब्दों में उद्घोषित करते हैं –

दिनमपि रजनी सायं प्रातः, शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः, पुनरपि पक्षः पुनरपिमासः।
पुनरपि अयनं पुनरपि वर्षं, तदपि न मुञ्चति आशामर्षम्।
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

– "दिन-रात, सुबह-शाम आते हैं और जाते हैं। वही शरद्-वसन्त चक्कर काटते हैं। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात, पुनः पक्ष, पुनः मास, पुनः उत्तरायण-दक्षिणायन, पुनः वर्ष – घूम-फिरकर सब वही वही। फिर से जन्म, फिर से मृत्यु, फिर से जन्म, फिर से मृत्यु" – वही ऊब से भरा हुआ रहट के समान लगातार घूमता हुआ जीवन ! सब कुछ बासी बासी, सब कुछ फीका फीका। सब कुछ रूटीन !

आचार्य शंकर कहते हैं – माया के राज्य में जीवन हमेशा से ऐसा ही होता आया है।

* * *

हमारे 'युग-निर्माता' साहित्यकार और उनका अनुकरण करते हुए हम भी निरर्थक प्रलाप करते हैं कि इस व्यर्थता से हमें पूर्णतः घृणा होने लगी है। मानवीय मन को अच्छी तरह समझनेवाले आचार्य शंकर कहते हैं – झूठी बातें हैं ये। तुम्हारी उद्विग्नता एक ढोंग है, आत्मवंचना है, क्योंकि **तदपि न मुञ्चति आशावायुः** – इस बदलते क्षणभंगुर मिथ्या जगत् के क्षणस्थायी भोगों के प्रति तुम्हारी जोंक के समान आसक्ति वैसी ही बनी रहती है, जाती नहीं और न घटती ही है। 'उद्विग्नता', 'निर्वेद' या 'आधुनिक वैराग्य' का तुम्हारा यह नाटक निश्चित रूप से एक पाखण्ड है। नहीं तो, यह सारा जगत् यदि तुम्हें सचमुच ही असार लग रहा होता, यदि तुममें सचमुच ही ऐसा बोध प्रकट हुआ होता तो – **इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम्** – इन सभी वस्तुओं को असार जानकर, इन स्वप्न के समान क्षणभंगुर भोगों का व्यसन छोड़कर, अपने सर्वस्व को दाँव पर लगाकर, तुमने ईमानदारी से यह जानने का प्रयास किया होता कि जीवन का सार किसमें है ! अतः तुम्हारे ये दुःखभरे उच्छ्वास झूठे हैं, नकली हैं – **तदपि न मुञ्चति आशापिण्डम्**।

आचार्य कहते हैं – यदि तुममें सच में ही 'विराग' आ गया हो, तो **भगवद्गीता किंचित् अधीता** – जिस गीता में समस्त वेद-वेदान्त का, समग्र शास्त्रों का सार है और इस असार जीवन में भी सार किसमें है – यह उद्घोषित करनेवाले इस अनुपम ग्रन्थ का थोड़ा-सा अनुशीलन करो – तुम्हें मार्ग प्राप्त होगा, प्रकाश मिलेगा, तुम 'पुनः-पुनः'-पर – 'वही-वही'-पन पर विजय पा सकोगे। इस अटल 'व्यर्थता', इस ऊब, इस अरुचि को हमेशा के लिए दूर कर सकोगे।

* * *

तुम स्त्री हो या पुरुष, गृहस्थ हो या संन्यासी, गरीब हो या अमीर, ब्राह्मण हो या अब्राह्मण – हर व्यक्ति को गीता आशा दे रही है, ऊर्जामयी, जीवनदायी सन्देश दे रही है –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एताम् तरन्ति ते ॥

– "यदि तुम सत्य की अवहेलना करके जगत् को ग्रहण करते हो, आज जो कुछ अनुभव हो रहा है उसी को जीवन का सच्चा स्वरूप मानकर जीवन बिताते हो, तब तो यह जीवन तुम्हें अन्त तक झाँसा ही देता रहेगा, सतत कष्ट ही देता रहेगा। तुम्हारा जीवन बस आँख-मिचौनी का खेल ही बना रहेगा। सत्य से अनजान, परछाइयों के पीछे दौड़नेवाला जीवन व्यर्थ, क्षुद्र, तुच्छ पदार्थ बन जाएगा। तो वह आज का हो, अतीत का हो, या आनेवाले कल का, इस अवास्तविक, भ्रामक 'अल्प' का मोह छोड़कर जो लोग 'भूमा' (विराट्) को पकड़े रहते हैं, निष्कपट-अनन्य भाव से उन सत्यस्वरूप परमेश्वर की शरण लेते हैं, वे ही इस जीवन के प्राणघातक कष्टों से छुटकारा पाते हैं – लुका-छिपी के इस खेल में ढाई को छू लेने के कारण उन्हें फिर से चोर नहीं बनना पड़ता – तब वे खेल को आनन्दपूर्वक देख सकते हैं।

* * *

"सत्यबोध के द्वारा, सबका और हमारा भी मिथ्या अनुभव दूर कर, अन्दर-बाहर सर्वत्र विराजमान उस आनन्दमय चैतन्यनाथ का हमें साक्षात्कार कराकर हमारे जीवन को चिद्विलास-अनुभूति के दिव्य सुख से भरनेवाली, मातृवत् अपनी सभी सबल-दुर्बल सन्तानों को समभाव से आश्रय देनेवाली अट्ठारह अध्यायों वाली भगवती गीता की जय हो। हे माता, हम तेरी शरण लेते हैं, तू हमारे जीवन में प्रतिष्ठित हो" –

अद्वैत-अमृतवर्षिणीं भगवतीं अष्टादशाध्यायिनीम्।
अम्ब त्वाम् अनुसन्दधामि भगवद्गीते भव-द्वेषिणीम् ॥

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण का समन्वयवादी दर्शन

से.नि. सूबेदार मेजर ए. एस. राठौर

आज का युग भौतिकता का युग है। मानव ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्वारा अनेक असधारण उपलब्धियाँ अर्जित करके भौतिक दृष्टि से हमारा जीवन सुख-वैभव से सम्पन्न कर दिया है, पर आध्यात्मिक जगत् के विषय में हममें सच्ची आस्था व विश्वास न होने से हम सच्ची शान्ति तथा शाश्वत आनन्द से वंचित होते जा रहे हैं। हमारा जीवन क्रमश: संवेदनाहीन एवं यंत्रवत् होता जा रहा है। हमारा देश विविधता में एकता का प्रतीक है, जहाँ विभिन्न भाषा-भाषी एवं अनेक धर्मों के अनुयाई निवास करते हैं, इसीलिए स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में प्रजातांत्रिक, समाजवादी धर्मनिरपेक्ष शासन-व्यवस्था स्थापित की गई। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ है – 'सर्वधर्म-समभाव'।

आत्मा में परमात्मा की अनुभूति ही सभी धर्मों का चरम लक्ष्य हैं। धर्म केवल सिद्धान्तों और मतवादों में नहीं है। समाज में समरसता, सौहार्द, सन्तुलन, सामंजस्य, सहिष्णुता आदि बनाए रखना भी धर्म का कार्य है। सभी धर्म मानवता का सन्देश देते हैं। समय समय पर संसार में अवतीर्ण होकर विभिन्न धर्मो के संस्थापकों, अवतारों, पैगम्बरों तथा धर्माचार्यों ने मानव-समाज को सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, करुणा, सेवा एव त्याग का ही सन्देश दिया है। ईसा मसीह कहते थे – "प्रेम ही ईश्वर है।" अधिकांश धर्मप्रवर्तक मनुष्य तथा अन्य जीवों के अन्दर ईश्वर का रूप देखते थे। भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने नर को ही नारायण की संज्ञा दी है। दीन-दुखी की सेवा को ही परमपिता परमेश्वर की सच्ची आराधना बताया है।

'राम-चरित-मानस' में गोस्वामी तुलसीदास इन्हीं बातों को रेखांकित करते हैं –

सिया-राममय सब जग जानी।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम से प्रकट होंहि मैं जाना।।
दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

आजकल जनमानस में धर्म के नाम पर भ्रान्तियों तथा विरोधाभासों में वृद्धि होती दिखाई दे रही है। जब हम अपने धर्म को श्रेष्ठ और सत्य समझने लगते हैं और उसकी तुलना में अन्य धर्मों को हेय मानकर अवमानना की दृष्टि से देखते हैं, तभी हमारे मन में साम्प्रदायिकता, कट्टरता तथा धर्मान्धता जैसी संकीर्ण भावनाओं का जन्म होता है, जिनके कारण सर्वधर्म समभाव की कल्पना कल्पना मात्र ही रह जाती है। इसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों में प्रेम, सौहार्द और समरसता की जगह एक दूसरे के प्रति अविश्वास, घृणा-द्वेष की भावनाएँ पनपनें लगती हैं। आतंकवाद धार्मिक कट्टरता का ही परिणाम है और मानवता के नाम पर एक कलंक है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम-चरित-मानस में बताया है कि दूसरों के कल्याणार्थ कर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और दूसरों को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाना सबसे बड़ा पाप है –

परहित सरिस धर्म नहीं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।।

आधुनिक युग में जब धर्म के क्षेत्र में सहिष्णुता घटती जा रही है, श्रीरामकृष्ण देव का सर्वधर्म-समभाव का सिद्धान्त विभिन्न धर्मों के मध्य समन्वय एवं समरसता स्थापित करने की दिशा में एक सेतु का कार्य कर सकता है। उनके सर्वधर्म-समभाव सम्बन्धी विचार आज के मानव-समाज के लिए परम प्रेरणादायक हैं। उन्होंने लोक-प्रचलित सामान्य दृष्टान्तों के माध्यम से अपने गहन विचारों को जन-साधारण के समक्ष बड़े ही रोचक शब्दों में प्रस्तुत किया है।

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – "जंगल में एक वृक्ष पर एक प्राणी को देखकर एक व्यक्ति ने अपने मित्र से कहा – अमुक वृक्ष पर मैंने लाल रंग का एक प्राणी देखा है। उसका मित्र कहता है – मैंने भी उस वृक्ष पर उस प्राणी को देखा है, पर उसका रंग तो पीला है। उनका तीसरा मित्र कहता है – आप दोनों झूठ बोल रहे हैं; मैंने तो उस प्राणी को देखा है, पर वह तो हरे रंग का है। पारस्परिक विरोधाभास होने के कारण सभी अपने अपने अनुभव को सत्य समझकर आपस में लड़ने लगते हैं। अन्त में वह तीनों उस वृक्ष के नीचे रहनेवाले व्यक्ति के पास आते हैं, तो वह सत्य का उद्घाटन करते हुए कहता है – "मैं सदैव इस वृक्ष के नीचे रहता हूँ और रोज इस प्राणी को देखता हूँ। कभी वह लाल रंग का दिखाई देता है, तो कभी पीला और कभी हरा। उसका नाम गिरगिट है। आप सभी का अनुभव सत्य है।"

इसका आशय है कि पूर्ण ज्ञान के अभाव में हम लोग अपने मार्ग को ही सत्य समझकर दूसरों की निन्दा करने लगते हैं। सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर हमारे मन का अज्ञान व भ्रम मिट जाता है और हमारी दृष्टि समतावादी हो जाती है।

श्रीरामकृष्ण देव सगुण और निर्गुण ईश्वर में भी भेद नहीं करते थे। वे कहते हैं, "जो व्यक्ति एक सत्य को जानता है, वह दूसरे को भी जान सकता है। जो निराकार को जान सकता है, वह साकार को भी जान सकता है।"

श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – "ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं।" हम जिस मार्ग को सरल एवं सुगम समझते हैं, उसी को अपना लेते हैं। वे कहते हैं कि यदि हमारे मन में ईश्वर-लाभ

की इच्छा हो तो एक ही रास्ते पर चलना चाहिए, परन्तु दूसरे मार्गों से द्वेष नहीं करना चाहिए। उन्होंने तअस्सुबी बुद्धि रखने से बार बार मना किया था। मेरा धर्म सत्य है और तुम्हारा धर्म झूठा – इसी का नाम है तअस्सुबी बुद्धि। यह बड़े अनर्थ की जड़ है। वे कहते थे – "कालीघाट में अनेक पथों से जाया जाता है भिन्न भिन्न धर्मों का सहारा लेकर ईश्वर के पास जाया जा सकता है। नदियाँ भिन्न भिन्न दिशाओं से आती हैं, परन्तु सभी समुद्र में जा गिरती हैं, वहाँ पर सभी एक हैं।"

वे कहते हैं – "छत पर अनेक उपायों से चढ़ा जा सकता है। पक्की सीढ़ी, लकड़ी की सीढ़ी, टेढ़ी सीढ़ी और केवल एक रस्सी के सहारे भी चढ़ा जा सकता है। चढ़ते समय मात्र एक ही उपाय का सहारा लेना पड़ता है। इसलिए पहले एक धर्म का सहारा लेना पड़ता है। ईश्वर की प्राप्ति होने पर, वह व्यक्ति सभी पथों से आना-जाना कर सकता है। सभी भक्तगण एक ही ईश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं। कोई कहता है ईश्वर, कोई राम, कोई काली, कोई अल्लाह, कोई ईसा, कोई ब्रह्मा। नाम अलग अलग हैं, परन्तु वस्तु एक ही है।

"एक तालाब के चार घाट हैं। हिन्दू एक घाट में जल पी रहे हैं और कहते हैं जल। मुसलमान लोग दूसरे घाट में पी रहे हैं और कहते हैं पानी। अँग्रेज लोग तीसरे घाट पर पी रहे हैं और कहते हैं वाटर। और कुछ लोग चौथे घाट में पी रहे हैं और कहते हैं अकुवा। एक ही ईश्वर के अनेक नाम हैं।"

श्रीरामकृष्ण देव ने सभी धर्मों के मतानुसार साधनाएँ की थीं। उनके मन में इस्लाम-धर्म की दीक्षा लेने की इच्छा उत्पन्न हुई थी। गोविन्द राय से मुस्लिम-धर्म की दीक्षा लेकर उन्होंने यथावत् साधना प्रारम्भ कर दी। उन्हीं के शब्दों में – "उन दिनों मैं अल्लाह मन्त्र का जप करता था। मुसलमानों की तरह लागें खोलकर धोती पहनता था और तीन बार नमाज पढ़ता था। सर्वप्रथम तो मुझे एक लम्बी दाढ़ी बढ़ाये हुए गम्भीर ज्यतिर्मय पुरुषप्रवर का दिव्य दर्शन हुआ और बाद में मेरा मन अद्वैतभाव में लीन हो गया। इस्लाम-धर्म की साधना के लिए श्रीरामकृष्ण देव को केवल तीन ही दिन लगे।

यदुनाथ मल्लिक के घर बैठक की दीवारों पर अनेक सुन्दर तैलचित्र लगे हुए थे। उन चित्रों में अपनी माता की गोद में ईसा-मसीह का भी एक सुन्दर चित्र था। श्रीरामकृष्ण देव ने बताया था कि एक दिन वे बैठक में बैठे हुए उस चित्र की ओर अत्यन्त तन्मय होकर देखते हुए मन में ईसा-मसीह के चरित्र पर विचार कर रहे थे। इतने में उन्हें ऐसा दिखाई दिया कि वह चित्र सजीव तथा ज्योतिर्मय हो उठा है और ईसा के अंगों से ज्योति-रश्मियाँ बाहर निकलकर उनके हृदय में प्रविष्ट होकर सभी मानसिक भावों में समूल परिवर्तन ला रही हैं।

बुद्धदेव के विषय में अन्य हिन्दुओं के समान ही उनका भी विश्वास था कि बुद्धदेव ईश्वर के प्रत्यक्ष अवतार थे। जैन और सिक्ख धर्म पर भी रामकृष्ण की भक्ति और श्रद्धा थी। उनके कमरे में अन्य देवी-देवताओं के साथ ही महावीर तीर्थंकर की एक पाषाणमूर्ति और ईसा-मसीह की तस्वीर भी थी। वे प्रतिदिन अन्य देवताओं के साथ इन चित्रों को भी धूप-दीप आदि दिखाया करते थे।

इस प्रकार भिन्न भिन्न धर्मों के अनुष्ठान करने और प्रत्येक धर्म के अन्तिम ध्येय के एक ही होने का अनुभव कर लेने के कारण उनके मन में यह दृढ़ धारणा हो गयी थी कि जितने मत हैं उतने ही मार्ग हैं। किसी भी मार्ग से जाने से निःसन्देह ईश्वर की प्राप्ति होती है। इसके लिए तो बस अन्तःकरण में प्रबल श्रद्धा-विश्वास और भक्ति ही आवश्यक है।

श्रीरामकृष्ण देव के समय तक किसी भी 'एक ही व्यक्ति ने' विभिन्न धर्मों का स्वयं अनुष्ठान करके उस अनुभव के आधार पर इस तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया था, इसी कारण आध्यात्मिक जगत् में उनकी अनुभूतियों का इतना महत्त्व है।

श्रीरामकृष्ण के प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो की विश्वधर्म-महासभा में हिन्दू धर्म को सर्वधर्मों की जननी के रूप में प्रस्तुत किया था। उन्होंने अमेरिकावासी लोगों को 'बहनो और भाइयो' के रूप मे सम्बोधित करते हुए कहा था – "एक दूसरे को समझो और स्वीकार करो।" उन्होंने पवित्र धर्मग्रन्थों से दो उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा था – "जो जिस किसी भी पथ से मेरे पास आएगा, मैं उसको मिलूँगा। सब मनुष्य विभिन्न मार्गों से मुझ तक पहुँचने का संघर्ष कर रहे हैं और अन्त में सभी मेरे ही पास पहुँचेंगे।"

उन्होंने और भी कहा – "प्रतिरोध के बावजूद अब प्रत्येक धर्म की पताका पर अंकित होगा – लड़ो नहीं, सहायता करो। विनाश नहीं, मेलजोल। विग्रह नहीं, मैत्री और शान्ति। त्यागो और ईश्वर में रमो।" धर्म-समन्वय पर बोलते हुए उन्होंने कहा था – "मुझको ऐसे धर्म का अवलम्बी होने का गौरव है, जिसने संसार को न केवल सहिष्णुता की शिक्षा दी, बल्कि सर्वधर्मों को सत्य मानने का पाठ भी सिखाया। हम केवल सबके प्रति सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् दृढ़ विश्वास रखते हैं कि सब धर्म सत्य हैं।

ॐ स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्म-स्वरूपिणे।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः।।

स्वामी विवेकानन्द का सन्देश

महामहिम विष्णुकान्त शास्त्री, राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

(रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, लखनऊ में प्रदत्त व्याख्यान का अनुलिखन)

किसी महापुरुष को स्मरण करने का उद्देश्य यही होना चाहिए कि हम उनके तेजोमय जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करें। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब हमारे देश के नवशिक्षित लोग विदेशी चमक-दमक से चौंधियाकर, उसके मोहक प्रभाव में पड़कर, अपना सर्वस्व त्यागकर पश्चिम का अन्धानुकरण करने को उद्यत हो रहे थे, तब आत्मगौरव एवं आत्मविश्वास के मूर्तरूप स्वामी विवेकानन्द ने हमारा दिशा-निर्देश किया था, युगों की ग्लानि और हीन भावना से मुक्तकर हमें अपने वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि करायी थी। अत: यह आवश्यक है कि हम पुन: पुन: उनके सन्देश को स्मरणकर विभ्रान्तकारी आकर्षणों के मायाजाल को काटकर उनके दिखाये रास्ते पर चलते रहें।

स्वामीजी का मूल सन्देश क्या है? उन्होंने इसे एक छोटे-से सूत्र में ग्रथित कर दिया है – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्-हिताय च** – अपनी मुक्ति तथा जगत् के हितार्थ। चिन्तनशील लोगों के मनों में ये प्रश्न उठते रहते हैं कि हम ऐसा क्या करें, जिससे हमारा जीवन सार्थक हो जाय? हम क्यों जिएँ? कैसे जिएँ? स्वामीजी का उत्तर है कि हमारे जीवन की चरितार्थता इसी बात में है कि हम अपने मोक्ष के लिए और जगत् के हित के लिए जिएँ। भारतीय दृष्टि के अनुसार 'मोक्ष' परम पुरुषार्थ है। इसे समझने के लिए पहले पुरुषार्थ को समझना होगा।

पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग कभी कभी घोर परिश्रम, कठिम उद्यम के अर्थ में भी होता है, किन्तु यह उसका गौण अर्थ है। उसका मूल अर्थ उसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट होता है – **पुरुषै: अर्थ्यते इति** – वह जो पुरुषों अर्थात् मनुष्यों द्वारा चाहा जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्यों का सर्वप्रधान काम्य सुख है। फिर अनुभव यह बताता है कि भौतिक सुख की प्राप्ति एक बड़ी सीमा तक '**अर्थ**' पर निर्भर है। अर्थ का सीधा-सादा मतलब है, आवश्यकताओं की पूर्ति का विनिमय-मूलक साधन यानी धन-दौलत। अत: अर्थ को भारतीय चिन्तकों ने एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया, पर यह भी स्पष्ट है कि अर्थ साधन ही है, साध्य नहीं। अर्थ-प्राप्ति से इसलिए सुख का बोध होता है कि हम उसके द्वारा अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं, अच्छा और यथेच्छ भोजन कर सकते हैं, बढ़िया कपड़े, आलीशान मकान, मोटर-गाड़ी, विमान आदि तरह तरह के विलास के साधन खरीद सकंते हैं। कामोपभोग के साधन के रूप में अर्थ का महत्त्व स्वत:सिद्ध है। दूसरी तरफ यदि किसी के पास अर्थ बिल्कुल ही न हो, न बेचने के लिए परिश्रम की क्षमता ही हो, तो वह भूखों मर जाएगा। इसलिए लोग सुरक्षा और कामोपभोग के लिए अर्थ-संग्रह पर बहुत बल देते हैं। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि हमारा सारा अर्थ, हमारी सारी धन-दौलत हमारे बाहर है और वह हमें पहचानती तक नहीं। फिर वह साधन ही है, उसे साध्य मानना बुद्धि का विभ्रम ही कहा जाएगा।

इन्द्रियों और विषयों के अनुकूल संयोग द्वारा ही सुख की पहली और सबसे स्थूल अनुभूति होती है। आँखों को सुन्दर रूप, कानों को मधुर शब्द, नाक को मोहक सुगन्ध, रसना को सुस्वादु भोजन और त्वचा को कोमल स्पर्श अच्छा लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के स्तरों पर आत्मवश अनुकूल वेदनीयता उत्तरोत्तर सूक्ष्म और उन्नततर सुखानुभूति जगाती है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने विषय सुखों के उपभोग के साथ साथ साहित्य, संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्र आदि के उपभोग के द्वारा प्राप्त सुखों को भी 'काम' पुरुषार्थ के अन्तर्गत ही रखा है। स्वामीजी के समय भी समाज के प्रभावशाली वर्ग में अर्थ और काम के प्रति उद्दाम लालसा विद्यमान थी। भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का जो कुप्रभाव आज के समाज पर पड़ा है, वह यही है कि लोग जल्दी-से-जल्दी, ज्यादा-से-ज्यादा रुपये कमाकर मौज-मस्ती करना चाहते हैं। अत: भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। निर्लज्ज, अवैध अर्थ व काम की उपासना से क्या सचमुच ही सुख मिल सकता है?

स्वामी विवेकानन्द का स्पष्ट उत्तर है – नहीं। उन्होंने कई स्थलों पर पश्चिम और पूर्व की तुलना की है और दोनों की कमियों की ओर इंगित किया है। उन्होंने कहा है कि पश्चिम में बहुत धन है, सुख-समृद्धि के असंख्य साधन हैं, प्रचुरता है, विलासिता है, किन्तु गहरे उतरने पर लगता है कि उन सबके भीतर रोदन है, अभाव है, अशान्ति है, हाहाकार है, छटपटाहट है, क्योंकि भीतरी अभाव को अर्थ और काम से भरा नहीं जा सकता। अर्थ और काम के प्रचुर उपभोग के बावजूद वह अभाव बना रहता है। अत: अशान्ति भी बनी रहती है। दूसरी तरफ उन्होंने अपने समय के भारत को भी भलीभाँति देखा-परखा था। संन्यास लेने के बाद उन्होंने तीन वर्षों तक पूरे भारत में परिव्राजक के रूप में भ्रमण किया था। उन्होंने अनुभव किया था कि वेदान्त के उच्च ज्ञान के बावजूद भारत में अशिक्षा है, अन्धविश्वास है, छुआछूत की हृदयहीनता है, घनघोर गरीबी है। केरल में अस्पृश्यता की असह्य यंत्रणा से क्षुब्ध होकर उन्होंने कहा था – यह पागलों का प्रदेश है। पूरे भारत को मथकर स्वामी विवेकानन्द ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भारतीय समाज बाहर से तो आर्त है, आतुर है, पीड़ित

है, गरीब है, अशिक्षित है, किन्तु उसका मन अब भी स्वस्थ है। अब भी वह समझता है कि मनुष्य अन्याय से, अवैध पद्धति से धन संचय कर, कामोपभोग कर सुखी नहीं हो सकता; सुखी होने के लिए धर्म का आश्रय अनिवार्य है।

पूर्व और पश्चिम – दोनों की सीमाओं को समझकर ही स्वामीजी ने यह निश्चय किया था कि हमें पूर्व और पश्चिम को पास लाना होगा। पूर्व को पश्चिम के भौतिक ज्ञान-विज्ञान तथा आर्थिक समृद्धि की जरूरत है और अर्थ-काम-परायण पश्चिम को पूर्व के धर्म का आश्रय लेना होगा। अर्थ और काम के प्रति आसक्त व्यक्ति धर्म की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। इसीलिए ठाकुर श्रीरामकृष्ण कामिनी और कांचन के त्याग की बात कहते थे। यहाँ कामिनी के त्याग का अर्थ काम का त्याग है, नारी की निन्दा यहाँ अभिष्ट नहीं है। साधिका नारी बेखटक कांचन और कामी के त्याग की बात कह सकती है। विचार करने पर लगेगा कि अर्थ हमारे बाहर है, काम का अवस्थान इन्द्रियों और मन में है और धर्म उससे भी सूक्ष्म है, उसकी स्थिति शुद्ध बुद्धि या विवेक में है। इसलिए भारत का चिन्तक कहता है कि अर्थ और काम की सिद्धि 'धर्म' के द्वारा होनी चाहिए तभी सुख मिलेगा। अधर्म से प्राप्त अर्थ और काम तो दु:ख के मूल ही हैं'। महाभारत की स्पष्ट घोषणा है – **धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते** – जिस धर्म से उपलब्ध अर्थ और काम सुख व्यावहारिक हेतु बनते हैं, उस धर्म का सेवन मनुष्य क्यों नहीं करते? अभिप्राय यही है कि धर्म द्वारा ही अर्थ और काम की उपलब्धि कर मनुष्य इस जगत् में सुखी हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने जिस धर्म पर सर्वाधिक बल दिया है, वह सेवा-धर्म है। उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें शिक्षा देते हुए कहा था – **जीवे दया नय शिवज्ञाने जीवसेवा** – जीवों पर दया करने का भाव उचित नहीं है, इससे तुम्हारे मन में अहंकार आ सकता है। तुम्हें तो यह समझना चाहिए कि ईश्वर ही समस्त जीवों में सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं, अत: जीवों को शिव, परमात्मा मानकर उनकी सेवा करनी चाहिए। इसलिए स्वामीजी ने अपने शिष्यों के सामने सेवा का आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहा था – **'दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव'**। स्वामीजी ने लक्ष्मीनारायण के देश में दरिद्रनारायण की स्थापना कर अपने शिष्यों को प्रेरणा दी थी कि तुम लोग विनम्रतापूर्वक दरिद्रों की सेवा करो, उन्हें दरिद्रता से ऊपर उठने के उपाय बताओ, अशिक्षितों को शिक्षित बनाओ, रोगियों की चिकित्सा करो। प्लेग की महामारी के समय स्वयं विवेकानन्द ने प्लेग से पीड़ितों की सेवा की थी। आज भी रामकृष्ण मिशन शिक्षा, चिकित्सा आदि सेवा के क्षेत्रों में अभूतपूर्व कार्य कर रहा है।

सच कहा जाय तो विवेकानन्द के लिए धर्म भी एक पड़ाव ही था, लक्ष्य नहीं। धर्म की अवस्थिति तो शुद्ध बुद्धि में ही है। उनकी दृष्टि तो उस पर थी, जो बुद्धि के भी परे है – **यो बुद्धेः परतस्तु सः**। वे परम सत्य का साक्षात्कार करना चाहते थे। इसीलिए वे चढ़ती जवानी में सबसे पूछते फिरे थे कि क्या आपने ईश्वर को देखा है? महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी स्वीकार किया था कि मैंने ईश्वर के दर्शन नहीं किये हैं। सिर्फ परमहंस श्रीरामकृष्ण देव ने उनसे कहा, "हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है।" उन्होंने यह भी कहा कि 'मैं तुम्हें भी ईश्वर के दर्शन करा सकता हूँ।' गुरुजी की कृपा से विवेकानन्द ने भी ईश्वर के दर्शन किये। वेद की उक्ति है – **तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्** – उसे देखा, वही हो गया, वही था। किसी को देखने या जानने से अगर कोई वही हो जाता है, तो वह वस्तुत: वही हो जाता है, जो वह वास्तव में था। केवल अज्ञान के कारण वह अपने को कुछ और मान बैठा था। विवेकानन्द भी नाम और रूप से ऊपर उठकर वही हो गए और शंकराचार्य के समान ही अनुभव करने लगे –

मनोबुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

– अर्थात् 'न मैं मन हूँ, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार, न कान हूँ, न जीभ, न नाक, न आँख, न आकाश, न भूमि, न तेज (अग्नि), न वायु, मैं तो चिदानन्दरूप शिव हूँ, शिव हूँ।'

पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, अन्त:करण आदि से ऊपर उठकर स्वयं को आत्मस्वरूप अनुभव करना ही मुक्त हो जाना है, मोक्ष की प्राप्ति है। तब न कर्तव्य का अहं रह जाता है, न कर्मफल पाने की स्पृहा। नाम और रूप के प्रति अनासक्ति आत्मस्वरूप की चेतना को जागृत रखती है। इसी जीवनमुक्त स्थिति में स्वामीजी ने अपना संन्यासी जीवन जिया।

कन्याकुमारी के शिलाद्वीप में ध्यानमग्न स्वामी विवेकानन्द को प्रतीत हुआ कि श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव पैदल समुद्र पार कर रहे हैं और उन्हें भी समुद्र पार करने की प्रेरणा दे रहे हैं। इस अनुभव से उन्हें लगा कि शिकागो में आयोजित होनेवाले विश्व-धर्म-सम्मेलन में जाना चाहिए। उन्होंने अपने मद्रासी शिष्यों से चर्चा की। उनके द्वारा एकत्रित धनराशि अमेरिका के टिकट की कीमत की तुलना में काफी कम थी। विवेकानन्द ने कहा – "यह राशि गरीबों में बाँट दो। माँ को मुझे अमेरिका भेजना होगा, तो वे स्वयं व्यवस्था करेंगी।" उन्होंने सचमुच व्यवस्था कर दी। उनके अनेक शिष्यों तथा खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह ने उनके अमेरिका जाने का प्रबन्ध किया। अमेरिका पहुँचने पर स्वामीजी को ज्ञात हुआ कि वे न किसी धार्मिक संस्था के प्रतिनिधि हैं, न उनके पास किसी धर्मगुरु का दिया परिचय-पत्र ही है। अत: वे धर्मसभा में अंश-ग्रहण नहीं कर सकेंगे। वे कुछ परेशान जरूर हुए होंगे, पर विचलित नहीं

हुए। वे अपना प्रिय श्लोक गुनगुनाने लगे –

किं नाम रोदिसि सखे त्वयि सर्वशक्तिः
आमंत्रयस्व भगवन् भगदं स्वरूपम्।
त्रैलोक्यमेतदखिलं तव पादमूले
आत्मैव हि प्रभवते न जडः कदाचित्।।

– अर्थात् 'हे सखे, तुम रो क्यों रहे हो? तुम्हारे भीतर समस्त शक्तियाँ निहित हैं। अपने सर्वशक्तिमान स्वरूप का आवाहन करो। तीनों लोक तुम्हारे चरणों के नीचे लोटेंगे। आत्मा ही विजयिनी होती है, जड़ शक्तियाँ नहीं।'

और वैसा ही हुआ। शिकागो की धर्मसभा में उन्हें सादर बोलने को आमंत्रित किया गया। अपने 'मेरे अमेरिका-वासी बहनो और भाइयो' सम्बोधन से ही उन्होंने श्रोताओं को जीत लिया। अमेरिकी श्रोताओं ने सोचा – जरूर यह कोई विलक्षण व्यक्ति है, जो हमें बहन मानता है, भाई मानता है, गैर नहीं समझता। लोग भावाभिभूत हो गए, दो मिनटों तक तालियाँ ही बजती रहीं। विवेकानन्द उस धर्मसभा के सर्वाधिक प्रभावी वक्ता सिद्ध हुए। बाद की कहानी तो जगजाहिर है।

'मोक्ष' का अर्थ होता है छुटकारा। तत्काल प्रश्न उठता है, किससे छुटकारा? कैसे मिलता है यह छुटकारा? स्वामीजी का उत्तर है और **मोक्ष का अर्थ है – अज्ञान से छुटकारा, प्रकृति के बन्धन से छुटकारा**। उन्होंने बारम्बार समझाया है कि जब हम अपने वास्तविक चैतन्य स्वरूप को भूलकर अपने को नाम-रूप से आबद्ध छोटी-सी इकाई मान लेते हैं, तभी हमारे दु:खों की उत्पत्ति होती है। उनका कहना था कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अपने सीमित होने के अज्ञानप्रसूत भाव को त्यागकर विश्वव्यापी सच्चिदानन्दमयी निर्गुण सत्ता से अभेदत्व स्थापित करने के लिए 'तत्त्वमसि' महावाक्य को आत्मसात करना होगा, वही हो जाना होगा, क्योंकि हम वास्तव में वही हैं, केवल अज्ञान के कारण अपने को सीमाबद्ध मानते हैं। उनका कहना था कि 'त्याग' के मार्ग पर चलकर ही हम इस लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। इसीलिए उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने अपने बालिका विद्यालय का आदर्श-वाक्य रखा था – **त्यागात् जायते शक्तिः भागवती** – त्याग के द्वारा ही भागवती शक्ति का उदय होता है। दुनिया के साधारण लोग त्याग के विपरीत परिग्रह के रास्ते पर चलते हैं। कहा जा सकता है कि **परिग्रहात् जायते शक्तिः भोगवती** – अर्थात् परिग्रह से भोगवती शक्ति का उदय होता है। पहला यदि श्रेय का मार्ग है तो दूसरा प्रेय का मार्ग। पहला रास्ता तलवार की धार पर चलने के समान दुर्गम है, कठिन है, किन्तु वही मोक्ष का रास्ता है, असीम आनन्द प्राप्त करने का रास्ता है। दूसरे रास्ते पर चलनेवालों को विषय-सुखों की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु वे सुख की भ्रान्ति मात्र हैं, गहन दु:खों की जड़ हैं, बन्धन में डालनेवाले हैं। सर्वत्यागी संन्यासी को ही मोक्ष मिल सकता है, जो विवेकशील मानवों को प्राप्त करना ही चाहिए। स्वामीजी का यही सन्देश मूर्त्त हो उठा है – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्-हिताय च** – के रूप में जीने के उनके आह्वान मे!

परन्तु स्वामीजी यहीं नही रुकते। कई बार लगता है कि विवेकानन्द ज्ञानमार्गी हैं, ज्ञानी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे ज्ञानी हैं, किन्तु वे शुष्क ज्ञानी नहीं हैं। सारी सृष्टि दु:खो से तड़पती रहे और मैं अकेला मुक्त हो जाऊँ – यह बात उन्हे स्वीकार नहीं थी। याद आ रहा है श्रीमद्-भागवत (७.९.४४) में आयी प्रह्लाद-स्तुति का यह श्लोक –

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामाः
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान्विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्य।।

– अर्थात् 'हे देव! मुनिगण प्राय: अपनी ही मुक्ति की इच्छा से एकान्त में रहकर मौन धारण किये रहते हैं, दूसरों के हित में तत्पर नहीं होते, किन्तु मैं इन दीन-दु:खियों को छोड़कर अकेले स्वयं मुक्त होना नहीं चाहता और इन भटकनेवालों का आपके सिवाय दूसरा कोई उद्धार भी नहीं कर सकता। अत: मेरी प्रार्थना है कि आप इनका भी कल्याण करें।'

इसी भाव की महिमा स्वामीजी में भी परिलक्षित होती है। वे नहीं चाहते थे कि संसार के लोग विविध पीड़ाओ से भले ही ग्रस्त रहें, मैं तो मुक्त हो जाऊँ। इसीलिए उनका सन्देश है कि हमारा जीवन जन-गण के मंगल हेतु समर्पित होना चाहिए, केवल अपने हितार्थ नहीं। यह भी द्रष्टव्य है कि उनकी परिधि में केवल उनकी जाति, धर्म, देश के लोग नहीं, सारा विश्व आता है। जिसने सभी प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को प्रत्यक्ष कर लिया हो, वह तो सबों का ही हित चाहेगा। उनकी पीड़ा, अशिक्षा, दरिद्रता आदि को दूर करने की सेवा से ही यह हित शुरू होता है और उन्हें मोक्ष प्राप्त कराने की सीमा तक जाता है। क्योंकि किसी का सर्वोच्च हित उसके अपने स्वरूप का बोध करा देने में ही निहित है।

स्पष्टत: स्वामी विवेकानन्द का यह सन्देश किसी काल या देश तक सीमित नहीं है। यह सच्चे अर्थो में सार्वकालिक है, सार्वभौम है, सार्विक है, अर्थात् सब कालों के लिए, सब देशों के लिए, सब प्राणियों के लिए है। तो भी लक्षणीय है कि स्वामीजी का जीवन इसी सन्देश के अनुरूप व्यतीत हुआ है। जो उन्होंने कहा है, वही किया है। अत: हम सब उनके इस सन्देश को अपने व्यवहारों मे मूर्त करें, जितनी हमारी शक्ति है, उतनी मात्रा में इस सन्देश को अपने जीवन में उतारें। श्रेय के मार्ग पर चलनेवाले नि:श्रेयस की प्राप्ति करते ही हैं – इस विश्वास के साथ इस पथ पर चलना शुरू करें! स्वामीजी के जीवन और सन्देश से हम यही प्रेरणा ग्रहण करें, तो हमारा जीवन भी धन्य हो जाएगा! ❑❑❑

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

६७. प्रश्न – जीवात्मा अभौतिक और सूक्ष्म है जो आँख से देखी, कान से सुनी, नाक से सूँघी, जीभ से चखी और शरीर से स्पर्श नहीं की जा सकती, अर्थात् किसी भी भौतिक स्तर पर उस सूक्ष्म वस्तु का आभास नहीं हो सकता, तो इस जीवात्मा पर माया, सांसारिक कर्म, पदार्थ का प्रभाव क्यों पड़ता है, जो पूर्ण रूप से भौतिक है?

उत्तर – वेदान्त-दर्शन में आत्मा और जीवात्मा एक होते हुए भी दो विभिन्न स्थितियों की सूचना देते हैं। आत्मा अभौतिक और सुसूक्ष्म है, जिसका अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता। मन सूक्ष्म जड़ है और देह, पाषाण आदि स्थूल जड़ हैं। मन और देह आदि गतिशील और परिवर्तनशील हैं। इनको भौतिक पदार्थों के रूप से जाना जाता है। वस्तुत: भौतिक पदार्थों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो पड़ता-सा दिखता है, वह वास्तव में भ्रम के कारण है और इसी दिखनेवाले प्रभाव के कारण आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। अर्थात् आत्मा निर्लिप्त और अप्रभावित है, परन्तु हमें ऐसा लगता है कि आत्मा भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है। जब हम आत्मा को प्रभावित मान लेते हैं, तो उसी माने हुए आत्मा को दर्शनशास्त्र की भाषा में जीवात्मा कहते हैं। पर जैसा ऊपर कहा, उससे स्पष्ट है कि वेदान्त में आत्मा और जीवात्मा को एक ही माना गया है।

उदाहरणार्थ, गिलास के जल में पिन डाल लो। जल को हिलाओ। पिन टेढ़ी-मेढ़ी दिखाई देती है। पर वस्तुत: पिन तो सीधी ही है। जब जल शान्त है, तो पिन अपने स्वरूप में दिखाई देती है। यह हुई आत्मा की उपमा। जब जल हिलता-डुलता है, तो पिन टेढ़ी-मेढ़ी दिखाई देती है। यह हुई जीवात्मा की उपमा। पर क्या पिन सचमुच टेढ़ी-मेढ़ी हो गई? नहीं। सीधी दिखनेवाली पिन-रूप आत्मा और टेढ़ी-मेढ़ी दिखनेवाली पिन-रूप जीवात्मा – ये दोनों क्या भिन्न-भिन्न हैं? नहीं। दोनों एक ही हैं। वास्तव में, जल का कोई प्रभाव पिन पर नहीं होता, भले ही प्रभाव हुआ-सा दिखता है। ठीक इसी प्रकार, भौतिक पदार्थों की गतिशीलता, परिवर्तशीलता और चंचलता के कारण अभौतिक और सूक्ष्म आत्मा प्रभावित-सा दिखता है, पर वस्तुत: प्रभावित नहीं होता।

६८. प्रश्न – (१) धर्म को सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करने का उपाय नहीं करना चाहिए। अत: धर्म समाज का व्यवस्थापक न बने। इस सम्बन्ध में आपकी क्या राय है? (२) राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-धर्म इन दोनों में क्या कोई पारस्परिक सम्बन्ध है?

उत्तर – (१) हम धर्म को समाज को भित्ति मानते हैं और ऐसी मान्यता रखते हैं कि समाज के जीवन में धर्म को सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिए। धर्म कोई गतानुगतिक परम्परा का पालन मात्र नहीं है। धर्म तो जीवन का नियमन करनेवाला तन्त्र है। मानव में दानव और देवता दोनों हैं, आसुरी और दैवी प्रवृत्तियाँ दोनो हैं। धर्म वह है, जिससे आसुरी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है और दैवी प्रवृत्तियाँ बल प्राप्त करती हैं। अत: यदि समाज में आसुरी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देनेवाली गलत बातें हावी होने लगें, तो धर्म को उनका विरोध करना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि धर्म को सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप का पूरा अधिकार है। आज उसका यह अधिकार छिन गया है, इसका कारण यह कि धर्म को पोषण के बदले शोषण का साधन बना लिया गया है। मतलबी लोगों ने धर्म पर आधिपत्य मानते हुए, उसे वर्गविशेष की सम्पत्ति मानते हुए, नाना प्रकार के कुसंस्कारों से उसे ढँक दिया है, इसलिए धर्म आज पंगु हो गया है, वैसे ही आज धर्म कुसंस्कार और अन्धविश्वास की राख में ढँका पड़ा है। प्रभुत्व इन कुसंस्कारों और अन्धविश्वासों का हो गया है। तथापि धर्म की आग बुझी नहीं है, वह सुलग रही है। राख की ढेर को दूर कर उस सुलगती आग को धधका देना यही आज का आवश्यक कर्तव्य है। तब हम देखेंगे कि धर्म जीवन के हर अंग में क्रियमाण है। धर्म का न समाज से विरोध है, न राजनीति से। वह तो जीवन के हर क्षेत्र में मानवता को प्रकट करना चाहता है। अत: धर्म को समाज का व्यवस्थापक बनने देना या न बनने देना कोई मायने नहीं रखता। यह बात उतनी ही हास्यास्पद है जितना कि यह कहना कि नींव मकान की व्यवस्थापक न बने; क्योंकि कोई कहे या न कहे, कोई माने या न माने, नींव तो मकान की अधिकार-प्राप्त व्यवस्थापक है ही। इसी प्रकार, धर्म भी मनुष्य का और इसलिए मानव-समाज का आधार है। आवश्यकता उसे हटाने की नहीं, बल्कि उसे सशक्त करने की है।

(२) राष्ट्र के प्रति श्रद्धा-भक्ति को राष्ट्र-प्रेम कहते हैं। राष्ट्र-धर्म देश का धर्म होता है, जिसके बिना देश जी नहीं सकता। आग का धर्म है जलाना। अगर आग से उसका यह धर्म निकल जाय, तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। विश्व के सभी राष्ट्रों का अपना-अपना धर्म है। स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में, अमेरिका का धर्म उसकी अपनी राजनीति है, तो इंग्लैण्ड का धर्म है उसकी वाणिज्य-व्यापार की नीति। उसी प्रकार, भारत का धर्म है आध्यात्मिकता और उसके आधार पर विश्व-बन्धुत्व की प्रतिष्ठा। इसमें बाधक तत्त्वों को बलपूर्वक नष्ट करना भी राष्ट्र-धर्म के ही अन्तर्गत आता है। जैसे, शरीर के किसी अंग में कीड़े पड़ जाने पर शस्त्रोपचार द्वारा उस अंग को काटकर दूर करना धर्म्य है, वैसे ही बाधक तत्त्वों का मूलोच्छेद भी धर्म्य है।

अपने राष्ट्रधर्म के प्रति अटूट निष्ठा और उसके पालन का सतत उपक्रम राष्ट्रप्रेम कहलाता है।

६९. प्रश्न – (१) पुराणों में ऐसा वर्णन आता है कि बुरे कर्म करने से नरक और अच्छे कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जब जीव कर्म का दण्ड या पुरस्कार नरक या स्वर्ग के रूप में प्राप्त कर लेता है, तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि पिछले जन्मों के कर्मों का फल है? (२) युग-परिवर्तन हो रहा है और इस शताब्दी के अन्त तक पूर्ण युग-परिवर्तन हो जाएगा और इसके बाद 'महामानव युग' का प्रारम्भ होगा। यह अब योग-द्रष्टाओं और भविष्य-द्रष्टाओं को स्पष्ट दिखलाई दे रहा है। इस विषय पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर – (१) मनुष्य अपने जीवन में तरह-तरह के कर्म करता है। पर इन कर्मों की तीव्रता में भिन्नता हुआ करती है। कुछ कर्म तीव्र रूप से बुरे होते हैं। यदि ऐसे तीव्र बुरे कर्मों को तीव्रता से किया जाए, तो उनका फलभोग 'नरकवास' कहलाता है। इसी प्रकार कुछ कर्म तीव्र रूप से अच्छे होते हैं। ऐसे तीव्र अच्छे कर्मों को यदि तीव्रता के साथ, स्वार्थयुक्त भावना से (ऐसा सोचकर कि इनका सारा अच्छा फल मैं भोगूँगा) किया जाए, तो उनका फलभोग 'स्वर्गवास' कहलाता है। इन तीव्र अच्छे और बुरे कर्मों को छोड़ दें, तो सामान्य रूप से किये गए अच्छे और बुरे कर्मों के संस्कार कहाँ जाएँगे? इन्हीं के फलस्वरूप अगला जन्म मिला करता है। यदि हमने नरकवास के अनुरूप बुरे कर्म किये हों तो दुःखभोग के पश्चात् उनकी दुर्गन्ध अगले जन्म में बनी रहती है। यदि स्वर्गवास के अनुरूप अच्छे कर्म किये हों, तो सुखभोग के पश्चात् भी उनकी सुवास अगले जन्म में बनी रहती है।

(२) युग-परिवर्तन तो स्वाभाविक है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में भावों का तरंगवत् उत्थान और पतन चलता रहता है, उसी प्रकार विश्व के जीवन में भी। जो चिन्तक और मनीषी हैं, वे भावों के उत्थान और पतन की नियतकालिता को पकड़ने में समर्थ होते हैं। इसके लिए योगद्रष्टा और भविष्य-द्रष्टा होने की आवश्यकता नहीं।

७०. प्रश्न – क्या गायत्री मंत्र से शक्ति की उपासना की जा सकती है?

उत्तर – गायत्री मंत्र पुरुषरूप भी है और स्त्रीरूप भी। 'सविता' को ब्रह्म का भी प्रतीक माना जा सकता है तथा ब्रह्म की शक्ति का भी। अतः गायत्री मंत्र का विधिपूर्वक निष्ठा के साथ जप करने से ईश्वर की सम्यक उपासना हो जाती है।

७१. प्रश्न – कर्मयोग की शिक्षा इस बात पर बल देती है कि सब कुछ ईश्वर की इच्छा मानकर चला जाय। इस दर्शन से क्या कर्तृत्व-शक्ति का ह्रास नहीं होता?

उत्तर – नहीं, कर्मयोग की शिक्षा से कर्तृत्व-शक्ति का ह्रास नहीं होता। कर्मयोग मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति के साथ कर्म करने को कहता है, पर फल को भगवान को सौंप देना सिखाता है। गीता के दूसरे अध्याय का सैंतालीसवाँ श्लोक कर्मयोग की समुचित व्याख्या करता है। वह कहता है – 'मनुष्य का अधिकार कर्म करने में ही है, फल में उसका कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य को कर्मफल का कारण नहीं बनना चाहिए, न ही उसे अकर्म का दामन पकड़ना चाहिए।' इसका व्यावहारिक तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब किसी कार्य को हाथ में ले, तो उसे पूर्ण करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। फल यदि अनुकूल न दिखे, तो भी प्रयत्न में कोई कमी न हो। और अन्ततोगत्वा यदि अनुकूल फल नहीं भी मिला, तो उसमें वह ईश्वर की इच्छा देखे। कर्म करने में पूरा अधिकार अपना माने और फल देने का अधिकार भगवान का माने, यह कर्मयोग का सूत्र है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कर्म के अपने अटल न्याय से उसका फल प्राप्त होता ही है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

रामकृष्ण मिशन का वार्षिक प्रतिवेदन (२००१-०२)

रामकृष्ण मिशन की ९३वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में १५ दिसम्बर को अपराह्न ३.३० बजे आयोजित हुई।

इस वर्ष की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में मलेशिया स्थित पेटालिंग-जया केन्द्र का श्रीगणेश तथा कोयम्बटूर केन्द्र में विकलांगों की सेवा हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मानव संसाधन विकास केन्द्र का उद्घाटन विशेष उल्लेखनीय है। वर्ष २००२ के दौरान सहिष्णुता एवं अहिंसा-धर्म के प्रचार-प्रसार करने हेतु हाल ही में यूनेस्को द्वारा विशेष सम्मान प्रदान करने के लिए रामकृष्ण मिशन का चयन किया गया है।

सन् १८८६ ई. में रामकृष्ण संघ के प्रथम मठ का वराहनगर (कोलकाता) में जहाँ शुभारम्भ हुआ था, उसी स्थान पर रामकृष्ण मठ का एक नया शाखा-केन्द्र खोला गया। बंगलादेश स्थित हबीबगंज केन्द्र में नए श्रीरामकृष्ण मन्दिर का समर्पण किया गया।

इस वर्ष के दौरान करीब ११.६० करोड़ रुपये खर्च कर मिशन ने देश के विभिन्न भागों में बृहत् पैमाने पर राहत तथा पुनर्वास के लिए कार्य किए जिसमें ८०० गाँवों के लगभग ५ लाख ७५ हजार लोग लाभान्वित हुए। उड़ीसा में पिछले वर्ष प्रारम्भ किया गया बृहत् पुनर्वास प्रकल्प पूरा हो गया, जिसके अन्तिम चरण में २४ आवास-गृहों एवं २ विद्यालय-संयुक्त आश्रय-भवनों का निर्माण किया गया। उससे भी बृहत् पुनर्वास परियोजना का शुभारम्भ गुजरात में किया गया, जो वर्तमान में प्रगति पर है और उसके तहत अब तक २८२ आवास-गृहों तथा ४७ प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण-कार्य पूरा हो चुका है।

निर्धन छात्रों की छात्रवृत्ति तथा वृद्ध, बीमार एवं असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि कल्याण-कार्यों में १.९२ करोड़ रुपये व्यय हुए।

९ अस्पतालों तथा चल-चिकित्सा-इकाइयों सहित १०८ चिकित्सा-केन्द्रों द्वारा करीब ६० लाख रोगियों की चिकित्सा-सेवा प्रदान की गई, जिसके तहत ३०.२८ करोड़ रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षा-संस्थानों द्वारा, बाल-विहार से स्नातकोत्तर स्तर तक के १.३७ लाख विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गयी, जिनमें ४० हजार से भी अधिक छात्राएँ थीं। शिक्षा-कार्य के मद में ७९.५४ करोड़ रुपये खर्च किए गए।

८.२८ करोड़ रुपये की लागत से कई ग्रामीण एवं आदिवासी विकास-योजनाओं का भी कार्यान्वयन किया गया।

इस अवसर पर अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके हार्दिक एवं निरन्तर सहयोग के लिए हम आन्तरिक धन्यवाद एवं कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

स्वामी स्मरणानन्द
महासचिव

अनमोल उक्तियाँ

* 'कड़ी मेहनत करो' और सब कुछ 'सहज रूप में लो' – ये दो सलाहें परस्पर-विरोधी नहीं हैं। तुम अपनी पूरी सामर्थ्य तभी प्रकट कर पाते हो, जब तुम काम को सहज रूप में लेते हो। ... जब हम परिणाम के लिए ज्यादा आतुर नहीं होते, तभी अपनी पूरी क्षमता व्यक्त करने में समर्थ होते हैं।

* हमेशा ऐसा कुछ हाथ में लो, जो करने में कठिन हो। इससे तुम्हारा भला होगा। जब तक जितना तुमने अपने अधिकार में कर लिया है, उससे अधिक कुछ करने की कोशिश तुम नहीं करते, तुम्हारा विकास नहीं होगा।

* साहस का मतलब भयरहित होना नहीं है; वह तो अपने कर्तव्य-कर्म के लिए ईश्वर से शक्ति पाना है – तुम्हारा भय खाना या न खाना गौण बात है।

* कुछ लोग इसलिए बड़े दिखाई देते हैं कि उनके संगी-साथी छोटे होते हैं – जैसे बाँबी के सामने दड़बा एक किले के जैसा मालूम होता है।

* प्रार्थना वह है, जब हम भूल जाते हैं कि हम प्रार्थना कर रहे हैं।